ॐ

# विरहिणी

( दार्शनिक महाकाव्य )

डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'

प्रत्यूष प्रकाशन
रामबाग-कानपुर

प्रकाशक

ग्रन्थम् प्रकाशन, रामबाग, कानपुर

प्रकाशन काल

अप्रैल, १९६६

आवरण चित्रकार

श्री एम० मनचन्दा, कानपुर

आवरण मुद्रक

मनोहर प्रिंटिंग प्रेस, कानपुर

मूल्य बारह रुपये

मुद्रक

मानक प्रिण्टर्स, आनन्दबाग, कानपुर-२

## समर्पण

स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।

वरदायिनी भगवती वेदमाता ,
तुम्हीं तो मेरी निर्देशिका हो ,
तुम्हीं तो इस काव्य की प्रेरिका हो ,
तुम्हीं तो पथ–प्रकाशिका हो ।

अतः

तुम से प्राप्त
तुम्हारी यह वस्तु, तुम्हारे ही चरणों में ,
तुम्हारे ही भक्तों के हितार्थ
सर्वात्मना
समर्पित

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्
परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मना
आत्मानमभि सं विवेश ॥

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा
परि लोकान् परि दिशः परि स्वः
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥

यजु० ३२-११, १२

# भूमिका

१९२६ ई० की १३ जुलाई को मैं हिन्दी प्राध्यापक के रूप में डी० ए० वी० कालेज, कानपुर, में प्रविष्ट हुआ और ३६ वर्ष की अनवरत सेवा के उपरान्त जून १९६२ ई० में कालेज से पृथक हुआ (२६ की संख्या को उलट देने पर ६२ ही बनता है। यह संख्या का संयोग भी आकस्मिक है)। इस लम्बी अवधि में हिन्दी विभाग को विकसित होना ही था। विद्यार्थियों की संख्या-वृद्धि तथा उच्च कक्षाओं के खुलने के साथ प्राध्यापकों की संख्या में भी वृद्धि हुई। एक या दो को छोड़कर, शेष अध्यापक जिनकी संख्या १४ तक पहुंच गई थी, मेरे छात्र रह चुके थे। हम सभी एक परिवार के रूप में कार्य करते थे। सभी मेरे निकट थे। अब मेरे अवकाश-ग्रहण या कार्य-विरति का समय आया तो कुछ ऐसा वातावरण बन गया कि अवकाश ग्रहण से पूर्व काव्य के क्षेत्र में मुझे कुछ दे जाना चाहिए। सम्भवतः उस महाशक्ति की ही यह प्रेरणा थी जो अग-जग सबका संचालन तथा पोषण कर रही है। उस महा-माया के वात्सल्य का ओर-छोर नही है। उसका यह भाव-दान सूक्ष्म से स्थूल होकर नाना रूपो में प्रकट हो रहा है।

वात्सल्य रस के सम्राट सूरदास ने, जहाँ अपने प्रभु को लाल के रूप में देखा है, वहाँ सभी इन्द्र, सभी जीव परम प्रभु के लाल हैं— यह भाव भी चिरकाल से साहित्य मे प्रतिष्ठित रहा है। वात्सल्य के साथ सूर ने प्रेम के उस प्राङ्गण में भी गहरा प्रवेश किया, जिसे दाम्पत्य प्रेम की संज्ञा प्राप्त है। इस प्रेम के भी, वात्सल्य भाव के समान, उन्होंने संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का मार्मिक उद्‌घाटन किया है। सूर ही क्यों, महात्मा हित हरिवंश तथा महा प्रभु चैतन्य ने भी प्रेम के एक अंश— शाश्वत विरह— की जो प्रतिष्ठा अपने साम्प्रदायिक साहित्य में की है, वह भाव क्षेत्र की अनुपम धरोहर है और सभी भावुक भक्तों के हृदय उसकी ओर आकृष्ट होते रहे हैं। हृदय के किसी कोने को यह भावना कभी स्पर्श कर गई— ऐसा भासित होता है,

क्योंकि स्वजनों की प्रेरणा के परिणामस्वरूप जो प्रथम गीत भगवती महाशक्ति ने लिखाया वह इसी विरह भावना से सम्बद्ध था। कामना और भावना कल्पना के साथ मिलकर विरह की जिस चित्रपटी का निर्माण करती हैं, उसमें एक नहीं नाना चित्र समाविष्ट होते हैं। प्रेम वैसे ही द्रवणशील है, फिर विरह तो उसे और भी अधिक विशाल भूमि में फैला देता है। कवियों ने जितनी मानसिक दशाओं का समावेश विरह भावना में किया है, उतना अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। वरदायिनी वेदमाता के शब्दों में —

> अच्छा व इन्द्रं मतयः स्वर्युवः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
> परिष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥
>
> सा० ३७५ ऋ० १०-४३-१

जैसे पति का प्यार करने वाली पत्नी अपने पति का आलिंगन करती है उसी प्रकार आनन्द की कामना से संयुक्त मेरी मतियां स्तुतियां, उसी परम प्रभु का स्पर्श कर रही हैं।

> 'का ते अस्त्यरंकृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ।
> विश्वा मतीरा ततने त्वायाधा म इन्द्र शृणवो हवेमा ॥'
>
> ऋ० ७-२९-३

प्रभो ! मेरी जिह्वा से जो वचन निकल रहे हैं, क्या उनसे तुम्हारा शृंगार हो सकेगा ? क्या कोई ऐसी वेला उपस्थित नहीं होगी, जिसमें मैं अपने को ही तुम्हें समर्पित कर सकूं ? आज मेरी समग्र मतियां, निखिल बुद्धियां, समस्त स्तुतियां सनातन होकर तुम्हारा आलिंगन करना चाहती हैं। मेरे हृदय की इस कातर पुकार को कुछ तो सुन लो —

> का त उपेतिर्मनसो वराय भुवदग्ने शंतमा का मनीषा ।
> को वा यज्ञैः परि दक्षं त आप केन वा ते मनसा दाशेम ॥
>
> ऋ० १-७६-१

प्रभो ! वह कौन सा उपाय है, जिससे मैं तुम्हारे मन को वरण कर सकूं। मेरी कौन सी बुद्धि तुम्हारे निकट पहुंच कर मेरे लिए परम शान्ति-प्रदायिनी बन सकेगी। नाथ ! मैं कौन सा यज्ञ करूं जो तुम्हारे दक्ष को चारों ओर से स्पर्श कर सके और कौन सा मन का ऐसा भाव आगे प्रस्तुत करूं जो मेरे पूर्ण आत्म समर्पण का सूचक हो।

उत स्वा तन्वा संवदे तत् कदा नु अन्तर्वरुणे भुवानि ।
किम् मे हव्यं अहृणानो जुषेत कदा मृडीकम् सुमना अभिख्यम् ॥
ऋ० ७-८६-२

मेरे अन्तरात्मन् ! कुछ तो बताओ, उस वरणीय प्रभु के अन्तस्तल में कब स्थान मिलेगा ? क्या प्रभु बिना क्रोध किये मेरी हव्य को स्वीकार कर लेंगे ? क्या वह भी दिन इस जीवन में आवेगा जब मुझे उस दयालु देव के दर्शन होंगे और प्रसन्नता से मेरा हृदय ओत-प्रोत हो उठेगा ।

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षु: उपो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।
समान मिन्मे कवयश्चिदाहु: अयम् ह तुभ्यम् वरुणो हृणीते ॥
ऋ० ७-८६-३

हे सर्व श्रेष्ठ देव ! जीवन में मैंने एक मात्र तुम्ही को वरण किया है, पर तुमसे वियुक्त हुये कितना काल व्यतीत हो गया । तुम्हारे दर्शन की आकांक्षा आज प्रबल हो उठी है, पर तुम दिखाई नही देते । तुम्हारे दर्शन का साधन-उपाय पूछने के लिये जब चिकित्सिक कवियों और विद्वानों के पास कोई पहुंचता है तो वे सब एक स्वर से बोल उठते है:—

"प्रभु को प्रसन्न कर, वे तुझसे रूठ गये हैं ।"

जीव की यात्रा प्रभु के वियोग के साथ ही प्रारम्भ हुई और उसका अन्त भी प्रभु के संयोग के साथ ही होगा । वियोग मे न जाने कितनी उच्चावच परिस्थितियां जीव के सामने आती रहती है और उसे क्लेशाक्रान्त करती हैं । आपत्तियों के थपेड़े उसे आनन्दस्वरूप प्रभु की ओर चलने के लिए बाध्य कर देते है । वह चलता है । वियोग से मुक्ति पाने के लिए गृहीत विविध प्रकार के अवलम्बन सुख की झलक दिखाकर तिरोहित हो जाते हैं और वह ज्यों का त्यों, आनन्द से वंचित, हृदय को मसोस कर रह जाता है । जगती का कोई अवलम्बन ऐसा है ही नही, जो परम प्रभु का सान्निध्य लाभ करा सके । आत्मा इस जगड्वाल में, विराट भ्रम-जाल में, मृग मरीचिका के समान एक बूंद जल के लिए तरस कर रह जाती है । प्रभु की प्राप्ति के लिए, आनन्द की उपलब्धि के लिये, तो एक मात्र साधन 'सब तज हरि भज' ही है, पर भौतिक आवरणों में आबद्ध जीवात्मा के लिये यह साधन बड़ा कठिन है । आत्मा जिन पाशों में आबद्ध है, उनसे जब तक छुटकारा न हो, तब तक वह किसी अन्य को पकड़ ही कैसे सकती है ? वस्त्र पर रंग चढ़ाना

है तो पहले बन्धन के ढंग को काटना होगा उसे स्वच्छ करना होगा। स्वच्छ होने पर ही उस पर रंग चढ़ सकता है। स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों के कारण जिस वासना-जाल ने जीव को समावृत कर रखा है, उसे दूर करना होगा। प्रभु के प्रेम का रंग जीव पर तभी चढ़ सकेगा। अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में इसी भाव को इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है —

'अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।' अथर्व १०-८-३२

जीवात्मा के निकट प्रकृति भी है और परमात्मा भी। परमात्म-दर्शन के लिए उसे प्रकृति को छोड़ना होगा। एक के छोड़ने पर ही दूसरे का दर्शन सम्भव है। सूफियों ने इसके लिए साधना के जिन अंगों का उल्लेख किया है उनमें प्रपत्ति, नामस्मरण, विरहानुभूति तथा आत्मनिवेदन की प्रमुखता है। अन्य साधन भी अपना महत्त्व रखते हैं परन्तु वे आरम्भिक हैं। अन्त में तो एक मात्र शरणागति ही सहायक होती है।

परमात्मा से जीवात्मा के वियोग की जिस अवस्था के साथ भारतीय वाङ्मय में चित्रित किया गया है, वह अपने रूप में अप्रतिम है, पर विरहानुभूति देश और काल के बन्धनों में सीमित नहीं की जा सकती। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में ऐसी आत्माएँ उत्पन्न हुई हैं, जो अपने संस्कारों के बल पर प्रभु के विरह का तीव्र अनुभव करती हुई अपनी भावना को वाणी का रूप देती रही हैं। मिल्टन ने जब "पैराडाइज लॉस्ट" और "पैराडाइज रिगेन्ड" लिखे होंगे, अथवा दांते ने जब 'डिवाइन कॉमिडिया' की रचना की होगी, तब दोनों ही पृथक् देश और काल में रहते हुए भी विरह की समान अनुभूति में मग्न हुए होंगे। भारतीय वाङ्मय ने इस अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए समय विशेष में आख्यायिकाओं के माध्यम को ग्रहण किया जिसे पौराणिक शैली कहा जाता है। सूर का सूरसागर, जायसी का पद्मावत, तुलसी का रामचरित मानस प्रभृति सभी कृतियों ने इसी पद्धति को ग्रहण किया गया है। वैदिक वाङ्मय में आख्यायिकाओं का माध्यम नहीं है। वहाँ सीधी आत्मा की पुकार है। प्रस्तुत काव्य भी आख्यायिका के माध्यम में कथित है। इसके ढाँचे में वैदिक शैली का ही प्राधान्य है।

प्रस्तुत रचना में काव्य का प्रथम पाद कालेज के विद्यार्थी काल में ही लिखा गया। अध्यापन के उपरान्त पर्याप्त अवकाश रहता था, जो अनायास छन्द-निर्माण में प्रयुक्त होता रहा। घर पर आता तो छन्द-रचना आपा की

भांति मेरी आत्मा के साथ लगी रहती । उस समय ऐसा भान भी नहीं होता था कि यह काव्य द्वादश सर्गों का रूप धारण करेगा । रचना का क्रम अवि-च्छिन्न रूप से चलता रहा । भाव-दिग्ध पदों को लिखते-लिखते जब मैं सो जाता तो भगवती सरस्वती न जाने कैसे आ जाती और सोते से उठा-उठा कर लिखने के लिए बाध्य कर देती । मैं भी उनका अनुचर बन गया । जैसे महर्षि व्यास को गणपति मिल गये, वैसे ही भगवती सरस्वती ने मुझे अपना लिपिक बना लिया । कैसे विचित्र क्षण थे वे, जब एक पर एक छंद स्वतः निकलते चले आते थे, और मैं भावनाओं तथा अभिव्यक्तियों के भार को वहन करता हुआ जैसे-तैसे भगवती की सेवा में अपने को संलग्न करता जाता था ।

'परमपुरुष' शीर्षक 'प्रथम सर्ग' सर्वप्रथम लिखा गया । उसके लगभग सभी छंद और गीत वैदिक मन्त्रों की भावनाओं पर आधृत है । प्रथम छंद का भाव मुझे इस जीवन में विशेष रूप से आकृष्ट करता रहा है । हम सब भोग मे लीन हैं, पर वह अपना, जो अपनों को निरन्तर भोग सामग्री दे रहा है, भोग से एकांत-पृथक् रहता है । वह अभीद्ध तप है जो तपना ही जानता है, पर भोग सब उसी के हैं । यहाँ जितना वसु है, वैभव है, विलास है, ऐश्वर्य है, भूति है, शक्ति है, दिव्यता है, अर्थात् श्री और लक्ष्मी है-सबका वही एकमात्र आधार है, स्वामी है, अधिपति है, सम्राट है । वह शचीव है, द्युमत्तम है, अभिभूति है । वह सर्वोपरि है, पर अनश्नन् है, अशना और अशना के तृप्ति-साधक पदार्थ उसने सब जीवों के लिए प्रदान किए है । वह केवल द्रष्टा है । उसका द्रष्टारूप ही इस सम्बन्ध मे ध्यातव्य है ।

वेदमन्त्रों के सतत पारायण एवं अनुभावन से उनके शब्द, विचार तथा भाव अन्तस्तल मे ऐसे रम गये है कि वे भाषण, लेख, कविता आदि में अना-यास आ जाते है । सामान्य व्यवहार से पृथक तथा अप्रयुक्त ऐसे शब्द तथा भाव श्रोताओं तथा पाठकों के लिये दुरूहता उत्पन्न कर सकते है । प्रस्तुत काव्य ऐसे शब्दों तथा भावों से ओत-प्रोत है । वेद के अतिरिक्त गीता, उपनिषद् आदि की सूक्तियां भी इसमें कहीं-कहीं स्वभावतः आ गई हैं । परिशिष्टगत शब्दार्थ बोधिका मे इनसे सम्बन्धित दुरूहताओं को दूर करने का प्रयत्न किया गया है ।

'परमपुरुष' के उपरांत 'विरह' नाम का सर्ग लिखा गया, जो आकार मे

बड़ा भी है और काव्य का मध्य भाग भी। इस सर्ग की अनुभूतियाँ मूलतः आध्यात्मिक होने हुये भी लौकिकता का संस्पर्श कर रही है। इसका एकमात्र कारण है हम सबका लौकिक संभार की बहुलता द्वारा आच्छादित होना। उस अज्ञात एवं अलौकिक को हम अपनी ज्ञान लौकिक सरणि द्वारा ही तो ग्रहण करने का यत्न किया करते हैं। 'परा' तो दूर 'पश्यन्ती भूमिका' में भी सबका प्रवेश संभव नहीं है। अतः प्रस्तुत काव्य में कहानी की साकारता न होने पर भी 'मध्यमा' में सम्बद्ध अनुभूतियों की सूक्ष्मता और सगुणता तो विद्यमान है ही। 'मन बिधि अगम' को सूर ने भी सगुण लीला द्वारा ही ज्ञेय बनाया था।

पद्मावत के प्रख्यात कवि मलिक मुहम्मद जायसी तथा सूरसागर के प्रसिद्ध प्रणेता महात्मा सूरदास का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय माना जाता है। आधुनिक महाकाव्यों में 'साकेत' का उर्मिला-विरह-वर्णन अपनी काव्य-श्री के कारण विदग्ध समाज में समादृत हुआ है। संस्कृत साहित्य में उत्तर रामचरित तथा नैषध के विरह-वर्णन भी अनुपमेय हैं। 'विरहिणी' की विरह-वर्णन-प्रणाली इन सबसे भिन्न है। कहने के लिए उसमें परम्परामुक्त षटऋतु वर्णन है परन्तु वह प्राचीन परिपाटी का अनुगमन नहीं करता। अनुमोदित कोटि से उसकी शृंखला कुछ विच्छिन्न जान पड़ेगी। इसमें विविध प्रकार की गीतियाँ अनुभूति-खण्डों को अपने अन्दर सँजोए प्राचीन एवं नवीन सभी प्रकार की भावराशि-द्वारा विरह का जो शृंगार कर रही हैं, वह साधना की भूमि में सहृदयसंवेद्य हो सकेगा, ऐसा विश्वास है।

विरह-वर्णन स्वभावतः अवतरण सर्ग की ओर लेखनी को खींच ले गया और अवतरण के साथ 'आत्म-पुरुष' तथा 'रचना' शीर्षक सर्ग भी आपाततः सम्बद्ध हो गए। विनय सर्ग तो विरह का प्रारूप ही है। आश्वासन और साधन उसके परिणाम तथा अनुवर्ती हैं। अवतरण उत्क्रमण की अपेक्षा रखता है और उत्क्रमण में दर्शन जैसी सिद्धि सन्निहित रहती है। स्वर्ग इन दोनों के बीच में पड़ता है, पर मिलन की, ऐकात्म्य की, दशा अनुभवातीत है। अतः सभी कवि स्वर्ग का ही वर्णन अपने-अपने ढंग से करते रहे हैं। विरहिणी का स्वर्ग वेद तथा पुराण की सम्मिश्रित सामग्री पर आश्रित है। अन्तिम सर्ग आत्मगीत है, जो द्वैत में अद्वैत का परिचय देता है।

सर्गों का यह विभाजन संयोग, वियोग, उद्योग एवं उपलब्धि के चार

स्तरों की भी सूचना देता है। रचना को देखते ही जीवात्मा अपने प्राक्तन संस्कारों के वशीभूत हो, तदनुरूप लोकों, गृहों, तथा शरीरों की कामना करने लगती है। अवतरण इसी कामना का परिणाम है। ऐतरेय उपनिषद में इस अवतरण का क्रमिक वर्णन उपलब्ध होता है। ब्रह्माण्ड की रचना में यदि हिरण्य-गर्भ पुरुष विभक्त होकर फैलता है, तो मानव शरीर में ब्रह्माण्डीय देवों के अंशावतार प्रकट होते है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की समता इसी आधार पर की जाती है। पिण्ड-गत योनियाँ अनेक है, जिनमे मानव-योनि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। अपने यहाँ व्यास[1] और स्काटलैण्ड में जार्ज हैमिल्टन[2] इस मान्यता का उच्च स्वर से उद्घोष करते है। ऐतरेय उपनिषद मे भी इस मान्यता का स्वीकरण है।[3] मानवशरीर कर्त्तृत्व और भोग दोनों के लिए उदात्त क्षेत्र है। उत्क्रमण के लिए इसकी अपेक्षा देवों तक को होती है। ऐतरेय उपनिषद् में इसी हेतु वृषभ और अश्व नहीं, मानव शरीर ही आत्म निवास के लिए उपयुक्त समझा गया है।

मानव शरीर का शिरोभाग नंदन वन है, जिसे स्वर्ग भी कहा जाता हैं। अथर्व वेद में भी इसे स्वर्ग तथा हिरण्यमय कोश की संज्ञा दी गई है। इस शरीर में आठ चक्र और नवद्वार है। यह आत्मा रूपी राम की अयोध्या है। इसमें मस्तिष्क रूपी स्वर्ग ज्योति से आवृत्त है।[4] अन्न, प्राण तथा मन के परिकर इसे घेरे हुए है।[5] स्वर्ग के भोग भी असीम हैं, परन्तु आत्मा को नीचे ढकेलने वाले भी यही है। स्वर्ग से पतित होकर आत्मा भीषण, भयावह तथा अमाङ्गलिक निम्न स्तरों मे प्रवेश करती है और सघन अधकार में ऐसी लीन हो जाती है कि उद्धार का मार्ग इसे सहसा सूझ नहीं पड़ता। भगवती वेदमाता अधकार से पीड़ित आत्मा के क्रन्दन का उल्लेख अतीव मार्मिक

---

१— 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरम् हि किञ्चित्।'

2— 'On earth, there is nothing so great as man.

३— पुरुषो वाव सुकृतम्

४— अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानामपुरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः। अथर्व १०—२—३१

५— तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथोमनः। अथर्व १०—२—२७

अनुभूति के साथ इस प्रकार करती है —

> न दक्षिणा विचिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा ।
> पाक्या चिद् वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभय ज्योति रश्याम ॥
> ऋ० २-२७-११

'देव ! न दाहिनी ओर कुछ दिखाई देता है, न बाईं ओर कुछ सूझता है । आगे-पीछे अधकार ही अधकार है । कैसे यहाँ से निकलकर निर्भय ज्योति लोक के दर्शन होंगे ?"

आकुलता की इस विषम वेला मे प्रभु ही मार्ग दिखाते हैं । वे ही उसे साधन-पथ पर अग्रसर करते हैं । विवेक सत्व-समिद्धि, पुण्य कर्म, सयम-नियम, प्रत्याहार आदि दैवी साधन आत्मा की सहायता करते हैं । इनसे प्राकृत मैल कटता है । ऊर्ध्वस्तर पर भक्ति-भवानी आ उपस्थित होती है और आत्मा को प्रभु के रग मे रग देती है ।

अवतरण जितना सरल है, उत्क्रमण उतना ही कठिन है । योगाभ्यास मे कुण्डलिनी का जागरण और सुषुम्ना नाडी से उसका उन्नयन तथा आरोहण कष्ट साधना साध्य हैं । आज्ञा चक्र पर पहुँचकर पुन सकट उपस्थित होता है । यदि पैर न उखडें और ऊपर चढते चले गये तो बेडापार है, अन्यथा पिसल्न के साथ अधःपतन तो निश्चित है ही । भक्ति के क्षेत्र मे भी अहकार स्त्री प्रकार का अवरोध उपस्थित करता है । प्रस्तुत काव्य मे पाठकों को एतद्विषयक सभी सामग्री प्राप्त होगी ।

काव्य मे आत्मा शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग मे किया गया है । इसका कारण है दाम्पत्यरूपक का निर्वाह । वेद के कई मत्रो मे यह रूपक पाया जाता है । प्रभु पिता हैं, माता हैं, पुत्र हैं, पति हैं, सखा हैं— इन भावनाओं के निरूपक अनेक मन्त्र हमने 'भक्ति का विकास' प्रबन्ध मे उद्धृत किये हैं । ऋग्वेद का एक अन्य मन्त्र इस प्रकार है —

> हिन्वन्ति सूरमुस्रय स्वसारो जामयस्पतिम् ।
> महामिन्दु महीयुव । ऋ० ९-६५-१, साम० ९०४

जैसे पत्नियाँ अपने पति की ओर स्वेच्छा से गमन करती हैं, वैसे ही

महीयान ब्रह्मत्व की आकांक्षिणी मेरी शक्तियां, मेरी चैतन्य किरणें प्रेरक एवं आह्लादक प्रभु की ओर बढ़ रही हैं ।

ऋ० १०–४३–१ में भी 'परिष्वजन्त जनयो यथा पतिम्' शब्द दाम्पत्य प्रेम की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। ऋ० १–३०–४ (साम० १८३) में 'अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम्।

वचस्तच्चित्र ओहसे मंत्र–शब्दों द्वारा कपोत और कपोती की उपमा देकर साधक को प्रेमी और प्रभु को प्रिया बनाया गया है जो सूफियों की साधना को प्रामाणिक सिद्ध करता है। ऋ० ८–९८–७ (साम० ४०६) में दोनों के मिलन को जल में जल की भाँति मिल जाना कहा है। आत्मा और परमात्मा हैं तो दोनों आत्मा ही। वे आत्मा रूप से एक, किन्तु परिमाणतः दो हैं। इसी भाव को बोधसार में श्री नरहरि भट्ट ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है:—

> द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
> भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम् ॥
> जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
> मित्रयोरिव दम्पत्योः जीवात्म परमात्मनोः ॥

यद्यपि द्वैत बोध से पूर्व मोह उत्पन्न करता है, परन्तु जब मनन के द्वारा बोध प्राप्त हो जाता है, तो द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर जान पड़ता है, क्योंकि उसकी कल्पना भक्ति के उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए की जाती है। समरस आनन्द के उत्पन्न होने पर तो द्वैत भी अमृत के तुल्य हो जाता है। जैसे पति और पत्नी का पारस्परिक प्रेम आनन्ददायक होता है, वैसे ही मित्र तुल्य आत्मा और परमात्मा का भी प्रेम होता है।

महात्मा नारायण तीर्थ ने शांडिल्य सूत्रों के भाष्य रूप में जो 'भक्ति-चन्द्रिका' लिखी है, उसमें भी आत्मा और परमात्मा के इस स्वरूप की व्याख्या की गई है। सूफी सम्प्रदाय में प्रेम का क्रम उलट गया है। वहाँ परमात्मा परम सुन्दर स्त्री के रूप में हैं और आत्मा उसका आकांक्षी, सौन्दर्य का प्रेमी और उसमें डूब जाने वाला।

ऋषियों ने परमात्मा को पिता और प्रकृति को आत्मा की माता भी कहा है, पर जब आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है, तो प्रकृति

बचाती बहुत पीछे छूट जाती है। लौकिक व्यवहार में भी यही दृष्टिगोचर होता है। पुत्री जब अपने पति के घर पहुँचती है तो अपनी जननी तक को छोड़ जाती है। जिस जननी ने अपने गर्भ में रखकर दस महीने तक उसे अपने रक्त-मांस से पोषित किया और बाल तथा किशोर काल की संवर्धना प्रदान की, वही अपने अंग-अंग से प्रसूत व्यक्तित्व को परगृह में विवश होकर भेज देती है और कन्या आयु भर के लिये दूसरे की बन जाती है। माँ की इस तड़पती हुई ममता को कौन आश्वासन दे सकता है? भगवती ने इस अनुभूति का मेरी लेखनी से निम्नांकित पंक्तियों में लिखा दिया

> कहने दे आत्मा का, मैं न प्रकृति की अपने प्रिय की प्यारी।
> जिन हाथों में खेली, उन हाथों पर कवि ना है बलिहारी॥

मिलन वेला का मंगल गान, सम्भव है पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करे।

आत्मगीत भी जिन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करते हैं वे साधकों के लिए अपरिचित नहीं हैं। स्वम्पावस्थान तथा सघस्वना की उस रस-प्लावित मांगलिकता में पाप-पुण्य दोनों ही दूर हो जाते हैं —

> "कहाँ चित्त है अहंकार है, सबकी सत्ता शून्य।
> पाप दूर था, किन्तु वहाँ था पास प्रतापी पुण्य,—
>
> युगल के एकास्वादन में।"

अथवा—

> "मेरा मुख मे, मैं अपने में, अथ है इति में, इति है अथ में,
> जीवन ने पलटा खाया है, बना नया इतिहास।"

इस मांगलिकता की, इस नवीन इतिहास की 'एकत्वमनुपश्यत' भावना का "का अह्नावेद क इह प्रवोचत्।"—जैसे आप्त वाक्य के होते हुए भी कल्पना ने लेख-बद्ध कर ही दिया है। इसमें जो कुछ अभिनव है, प्रसाद पूर्ण है, सहृदयसंवेद्य है, सरस है, वह भगवती का अनुग्रह है और जो कुछ सदोष है या नीरस है, वह मेरी लेखनी का प्रमाद है—

सुधियः संस्कुर्वन्तु यन्मत् प्रमादवश मत्येति कृतम् ।
न मामकीना सृष्टिः कारुण्यैकं सरस्वत्याः ॥
देव्याः कृपा कटाक्षेण गीता विरहिणी मया ।
आकुलितान्तः शान्त्यर्थं मत्तैव संतनोतु मे ॥

तव पादपद्म शरणे
वियन्तु मलरोग–दुःख–संततयः ।
स्वस्तिराशयः सततं
तव सामीप्यं भावयन्तु ॥

"परि पूषा परस्ताद्
हस्तं दधातु दक्षिणम् ।
पुनर्नो नष्टमाजतु ॥"

"समु पूष्णा गमेमहि
यो गृहाँ अभिशासति ।
इम एवेति च ब्रवत् ॥"

ऋ० ६–५४–१०, २

भागवतम्
९/७० आर्यनगर, कानपुर ।
चैत्र शु० ६, २०२३ वि०

मुंशीराम शर्मा 'सोम'

# विषय-सूची

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|

## गन्तव्य

हमें जाना वहाँ है, है जहाँ पर ज्योति उजियाली,
प्रभा के पुंज सविता से जहाँ फैली ललित लाली।

हमारा देव, देवाधार, देवाराध्य सुखशाली,
जहाँ पर आत्म आभा से मिटाता है निशा काली।

प्रकृति से पार होकर श्रेष्ठतर निज रूप पा जावें,
जिसे सब श्रेष्ठतम कहते उसी में फिर समा जावें।

निकलता है उसी से श्वेत, अरुणिम रंग या नीला,
चराचर सृष्टि में फैली उसी की मांगलिक लीला।

उसी के हम सभी हैं और वह भी तो हमारा है,
विमल अविकल प्रकट होती उसी से शान्तिधारा है।

विकल जन का वही बस एक जीवन में सहारा है,
चलें उसकी शरण में अंध-हित जो चक्षु-तारा है।

प्रथम सर्ग

# परम पुरुष

वह तप अभीद्ध, वह ज्वलित अनल की नित्यता,
वह कौन व्रती व्रतलीन, निहित-ऋत-सत्यता।
वह कौन जागरणशील शयन से विमुखता,
पर-हित-रत, निज से विरत, स्वहित की शुष्कता। १

जल रही वही होकर प्रचण्ड पल-पल, घड़ी,
जो जाने जलना प्राण-चेतना की कड़ी।
जो समझे आहुत होना ही जीवन-जड़ी,
जो संतप्तों के हेतु अश्रु-वर्षा-झड़ी। २

चल रहा निरन्तर जागृत कर्म-समृद्धि से,
वह वांछा - कांक्षा - रहित, समीक्षण - सिद्धि से।
वह नित्यानन्दी, स्वस्यन्दी बल-वृद्धि से,
वह स्वच्छन्दी, मन्त्री, विरक्त गृह-गृद्धि से। ३

वह अयुत - अक्ष, वह विपुल - वक्ष, पद - लक्षधा,
उसके कर, मुख, श्रुति, शीर्ष, गिरा बहु-पक्षधा।
वह पुरुष, प्रकट पुरुषार्थ परार्थ सहस्रधा,
इस अखिल ओक में ओत-प्रोत अजस्रधा। ४

वह क्षर - अक्षर - अतिक्रान्त, शान्त, एकान्त है,
वह अकल, अमल, छल-छिद्र-अतीत नितान्त है।
वह ऋचा - साम - यजु से वदान्य वेदान्त है,
वह गमनागम - आश्रम, श्रम से अश्रान्त है। ५

वह परम अगति, गतिशील, निकटतम, दूरतम,
वह सर्वान्तः परियामी, प्रेमी निर्मम।
वह वेगवान, वह धावमान, वह स्थिरतम,
वह एक, उसी से ये अनेक जड़ - जंगम। ६

वह परमोज्ज्वल, वह परमपूत शुचिव्रततम,
वह व्रण विहीन, वह तनु-विहीन, ऊपर, अवम।
वह धन, ऋण, गुणन-विभाग, वही है सम-विषम,
वह कवि, ज्ञानी, सम्भ्रान्त, वही है निर्भ्रम। ७

वह क्रम-अक्रम से दूर, नित्य दुरतिक्रम,
वह आगम - निगम - अगम्य, गम्य - रागाधिगम।
वह सयम - नियम - अयम्य, दम्य से दूर दम,
वह योग - युक्त, पर असपृक्त, ससिक्त - शम। ८

वह सतत स्वयम्भू, नभ-प्रपच-परिभू-परम,
वह चिति, वह चारु महाचिति, चेतनता चरम।
वह गरीयान, गुरु गेय, गुणी, गाथा-गरिम,
वह मोद-प्रमोद-प्रवीण, मधुर मजुल-महिम। ९

वह सतत युवा, धृति ध्रुवा इन्द्र-सयुजा-सखा,
वह मधु अनूप, मधुरूप, उसी ने मधु चखा।
वह वरुण - वृन्द - वरणीय, विमल - वैभव - वृषा,
वह तारक, त्राता, तरणि, तृप्त, तारित-तृषा। १०

वह सर्वोत्तम, वह अपरोत्तम, वित्तम, विभु,
वह पालयिता, पाता, प्रताप - पविता, प्रभु।
वह रम्य, रमण विरहित, विराम, ऋजु, ऋषि, ऋभु,
वह सर्व-स्वतन्त्र, स्वमन्त्र, मन्त्रयन्ता, स्वभू। ११

ये जायमान ये जात न उसको जानते,
वह क्या कैसे करता, कब ये पहिचानते।
ये बात - बात मे उसके विरुद्ध बखानते,
पर ये मानी कृति-मध्य उसे कब मानते। १२

जब वज्रपात में, घात और प्रतिघात में,
विष्वक् - विपत्ति - बेला, विभीषिका - व्रात में।
वह दृष्ट - श्रुत भैरव-रव, झंझावात में,
तब होती क्षणिक प्रतीति घोर अज्ञात में। १३

प्रभु - संदेही कहते ही रहते वह नहीं,
प्रत्यक्षवाद में कब परोक्षसत्ता कहीं।
पनपी है ? पर सुहाग में हति होती यहीं,
ऋषि कहते, देखो, विश्वनियन्ता है वहीं। १४

ये युद्धमना पर दीन भिक्षु जय के लिए,
उसके पद – तल में प्रणत निबद्धांजलि किए।
उसका आश्रय ले मरणशील जन हैं जिए,
कितने अरक्षितों को उसने रक्षण दिए। १५

उसकी प्रणीतियाँ पृथुल, अपूर्व प्रशस्तियाँ,
उसकी अगेय गीतियाँ, अनश्वर ऊतियाँ।
कब किसे ज्ञात हैं उसकी रंजन-रीतियाँ,
उसकी सन्निधि में भग्न भक्त - भव - भीतियाँ। १६

उसकी मघवत्ता का न कहीं अथ–इति मिला,
उसकी सत्ता का सुमन असत्ता में खिला।
जन-जन का अहमिति - मूल महत्ता में हिला,
वह हिला न डोला, रहा सतत अविचल शिला। १७

उसकी महिमा नित नूतनता के नृत्य में,
उसकी कविता कोमल–कठोर के कृत्य में।
उसकी लीला यति-गति मे, भर्ता-भृत्य में,
दिखलाई देती श्री–शोभा पावित्र्य में। १८

वह इन्द्र, इंद्रियाँ उसकी सदा अदृश्य हैं,
वह अगी, पर अवयव-अवयव अस्पृश्य हैं।
उसकी कृतियाँ, उसकी नीतियाँ अकथ्य हैं,
उसकी सृतियाँ, धृतियाँ, धीतिया अधृष्य हैं। १९

उसके हैं कृत्य अदृप्त, सत्य सकल्प हैं,
उसके बल-वीर्य विराट, अमोघ, अनल्प हैं।
उसके तेजो मे तथ्य, शेष सब गल्प हैं,
उस अधिरोही के लिए बने मे तल्प हैं। २०

उसके ओजस्वी, वचस्वी, वर बाज हैं,
सिद्धार्थ - स्वय, समिद्ध साधना - साज हैं।
वह विश्वराट, विभ्राज, उसी के ताज हैं,
सम्राट, स्वराट, स्ववान, स्वशक्ति - समाज हैं। २१

वह एक, एकव्रत, एक-रूप, अद्वैत है,
वह एक, द्वैत मे दयित, वितति मे श्रेत है।
वह त्रैत, त्रिगुण से नव, नव से विविधैत है,
वह वहुत, वहुत मे हुत, आहुत-विरुदैत है। २२

वह एक, समग्र, उदग्र, अमित-अभिधान है,
वह अग्नि, इन्द्र, यम, वरुण, मित्र मुदमान है।
वह मातरिश्व, वह गरुत्मान, गुरु - ज्ञान है,
वह दिव्य, सुपर्ण, सुवर्ण, विवेक-वितान है। २३

वह निर्गुण, वह गुणवान, गुणी-सख्यान है,
वह सोम, ओ३म्, परव्योम, देव द्युतिमान है।
वह रवि-शशि-पावक-पवन-अवनि-ईशान है,
वह निखिल नियति का नयन, निदान, निधान है। २४

वह अस्ति–नास्ति का स्रोत, सृजन–लय–मूल है,
वह आधि–व्याधि का शमन, वेदना–शूल है।
वह अश्मवती, द्रुतिवती नदी का कूल है,
वह प्रीति - कीर्त्ति - वाटिका - लता का फूल है। २५

यह जड़ – जंगम का संगम व्यष्टि – समष्टि में,
संगठित, सुरक्षित उसकी दैवी दृष्टि में।
यह प्रजा प्रजापति से अनुतृप्त अभीष्टि में,
पाती है प्रीति अनूप वरों की वृष्टि में। २६

सर–सरित–सिन्धु का स्रोत, स्यन्दना–सानु है,
भू के कण–कण में व्याप्त, निहित – परमाणु है।
वह अनल, अनल में तड़ित, तड़ित में भानु है,
वह अनिल, अनिल में वियत्ति, वियत्ति में स्थाणु है। २७

वह भूत – भूत में भावित भाव – विभाव है,
वह प्राण – प्राण का परितोषी प्रस्ताव है।
वह रस–रस का आस्वाद्यमान संस्राव है,
वह रव–रव का आरोहणकारी राव है। २८

वह लोक–लोक लालित ललामता – लास्य है,
वह फूल–फूल का विकच प्रफुल्लित हास्य है।
वन, व्रतति, वनस्पति सभी उसी से वास्य है,
वह देव सर्वभुक, अग्नि उसी का आस्य है। २९

यह सूर्य, पुनर्नव चन्द्र उसी के नेत्र हैं,
यह अन्तरिक्ष है उदर, चरण भू – क्षेत्र हैं।
द्यौ मूर्धा, प्राण – अपान वायु के वेग हैं,
दिक् श्रवण, अंगिरस विद्युत, ज्वारोद्वेग हैं। ३०

वह जग का जीवन-प्राण, अपान अरिष्ट का,
वह सर्वव्यापी व्यान, उदान अदृष्ट का।
वह शीत - ऊष्म-सतुलन, समान विसृष्ट का,
वह साधक इष्ट, निवारक विलष्ट-अनिष्ट का। ३१

वह सत, वह चित, परिपूरित परमानन्द है,
वह पूज्य, पवित्र प्रमाण, स्वधा, स्वच्छन्द है।
वह जगज्जनक, तपरूप, सत्य - निस्यन्द है,
वह दीनदयालु, अकारण करुणा - कन्द है। ३२

वह बुद्धि - विभव, उरु ज्योति, उमा के साथ है,
वह विष्णु, बृहस्पति, हत - हीनो का हाथ है।
गूँगे की गौरव गिरा, गेय - गुण - गाथ है,
वह गलित-पलित-दुख-दलित-छलित का नाथ है। ३३

वह उत् से उत्तर, उत्तर मे उत्तम रहा,
युग – युग मे उसकी शक्ति रही सर्वसहा।
वह महिमा – मडित, मजुल मगलमय महा,
उसके प्रवाह मे पापी – सतापी बहा॥ ३४

वह धनदा, बलदा, ज्ञान–आत्मदा है सदा,
भू से द्यावा तक व्याप्त उसी की सम्पदा।
जो तुष्टि मानसी, पुष्टि शरीरी सौख्यदा,
उसका धाता, उसका दाता प्रभु सर्वदा। ३५

मैं – तुम – वह कहते – कहते वासर बीतते,
कब भाव - समर मे अपनी अहमिति जीतते ?
हम प्रतिपल अपने को अपनों से खीचते,
सब कुछ रहते भी सब से आँखें मीचते। ३६

यह एक इकाई उस समग्र का अंग है,
वह जब तक है तब तक ही इसका रंग है।
उससे वियुक्त होते सम रसता भंग है,
यह सीना अपने सीने से ही तंग है। ३७

सत्ता की सीमा नहीं, अमेय, अकूल है,
भूमा में मिति की खोज भयंकर भूल है।
वह कृष्ण, करीम, रहीम, राम का मूल है,
वह विविध वाणियों को सुनता समतूल है। ३८

हम जब – जब जो – जो वचन देवहित बोलते,
वे तब – तब जटिला हृदय – ग्रन्थि को खोलते।
क्या छिपा यहाँ है, क्षण भर मर्म टटोलते,
फिर वचनों में ही संवर्धक मधु घोलते। ३९

यदि कहीं निकट से सुन लेते आह्वान को,
मानस से निकले भक्ति - भरित आख्यान को।
तो नंगे पैरों दौड़ छोड़ शिरत्राण को,
वे सब प्रकार साधते भक्त - कल्याण को। ४०

यह विश्व उन्हीं का विस्तृत मंगल याग है,
जो यज्ञ – परायण इसमें लेता भाग है।
जिसका जीवनदायी हवि में अनुराग है,
उसका संरक्षित उस त्राता से त्याग है। ४१

जो प्रकृति – परित्यागी तुजता तन से यहाँ,
वह पाता वृद्धि सवेग स्वस्थ मन से यहाँ।
वह बनता विमल विचार - विवेचन से यहाँ,
पाता है प्रभु को प्रणमन, सेवन से यहाँ। ४२

प्रभु, उसे करे निर्द्वन्द्व, अभय सब ओर से,
वह रिपुदल – विजयी उनकी करुणा – कोर से।
उखड़े भी पा प्रभु – कृपा यहाँ सुख से बसे,
पर असुर क्रूर उसकी दृढ़ दंष्ट्रा में फँसे। ४३

जो तम पर रख निज पैर, लिये रज हाथ में,
शिर में सत - शोभित, चलते पावन - पाथ में।
वे रमते सब में, पर रहते प्रभु - साथ में,
उनकी केन्द्रित कामना उन्हीं के नाथ में। ४४

वह नाथ अनाथों का, अबलों का बल वही,
वह निराश्रितों का आश्रय सुख - सबल वही।
इस मलिन अशुचि आवरण - मध्य निर्मल वही,
इस क्षणिक विनश्वर विश्व बीच अविचल वही। ४५

× × ×

मेरे प्रभु के गुण अनन्त हैं, कैसे उसके गाऊँ गान,
उसकी स्थिति का पार नहीं है, उसकी महिमा अमित, अमान।
उसके तेज, ताज, वर्चस के तने हुए हैं वितत वितान,
उसके कीर्ति-केतु फहराते तत्व-सत्व का देकर ज्ञान। ४६

सर्व दृक, सर्व इत, सब श्रेष्ठ, सर्व प्रेष्ठ,
सत्य, नित्य, चित्र – गुण – रूप शक्ति, शुद्धता।
न्याय – निष्ठ, नायक, निरंजन, निरीह तुम,
पतित – पवित्रकारी परम प्रबुद्धता।

दीनता - विदारण, दयालु, दीन-धारण,
सुनीति - प्रीति - कारण, कुकर्म प्रति क्रुद्धता।
दानशील जन के दलित - दुख - द्वन्द्व सब,
मंगल के मार्ग में रहे न अवरुद्धता। ४७

आर्त - आर्ति - तारण, स्वभक्त - भय - वारण,
प्रतारण निदारुण-प्रपंच — दुरितावली।
दूर होती गंध - अंध अविवेकिता की,
शीघ्र सौरभित्त होती सुविचार - विपिनावली।
ज्ञानप्रद, मानप्रद, सिद्धिप्रद, मोक्षप्रद,
सज्जन — सुखद चित्त चारु चरितावली।
सन्निधि में असत अधम साधु - शील होते,
जड़ काक पाते चेतना की कल काकली। ४८

सर्व बलदायक, विधायक सुधर्म के हो,
अर्थ के सुसाधक, विवर्धक सुकाम के।
संतति के पालक, विदारक हो व्याधियों के,
दुर्गुणों के नाशक, सुशासक त्रिधाम के।
प्रापक पुनीत पुरुषार्थ के, निरोधक हो,
गर्व के, सुशिक्षक हो वेद - गुण - ग्राम के।
हे अनादि, हे अनंत, हे परेश, पारब्रह्म,
कौन गुण गा सके अपार तव नाम के। ४९

मेरे राम ! मेरे राम !! मगल नाम, मगल-घाम,
रम्याराम, तुम अभिराम। सुषमास्रोत ललित-ललाम।
मेरे राम ! तुम गुण-ग्राम। मेरे राम ! शोभा-श्याम,
मेरे राम ! द्युति के दाम, मेरे राम ! मजु विराम।
सब मे व्याप्त हे विधि वाम। सुख-श्री शान्ति के विश्राम,
करते वन्दना प्रतियाम-वदी वेद ऋक-यजु-साम।
तुम बहु नाम, एक अनाम। तुम परधाम विरहित-धाम,
तुम हो केन्द्र, तुम आयाम। तुम हो उक्थ, तुम उद्दाम।
पूर्ण प्रकाम, किन्तु अकाम। भूमा, किन्तु लघिमा-भाम,
गुरु गन्तव्य, गत-परिणाम ! तुमको बार-बार प्रणाम। ५०

तुम्हारा बल-विक्रम अनिवार,
तुम अनन्त, आद्यन्त हीन है तव ऐश्वर्य-प्रसार।
राधस, सिद्धि, सफलताओं का भरा हुआ भडार,
चित्र-विचित्र विविध-विधियों में अद्भुत, अकथ, अपार।
जहाँ अभाव - न्यूनता दीखें, भरें वही आगार,
लोक कोप से पूरित होते, कही न कोप - विकार।
अन्न यहाँ है, रत्न यहाँ है, यहाँ रजत के तार,
यहाँ प्राण, वसुओं का वासव, यहाँ हिरण्य-विहार।
झिलमिल-झिलमिल मनो-ज्योति यह सकल्पो का सार,
कर्म-ज्ञान के तन्तु यहाँ हैं, यहाँ विचाराचार।
रहे सुरक्षित सावधान ये शुचिता के आकार,
बनू अग्रसर पाऊँ प्रज्ञा जो धन - बल - आधार।
सत की सिद्धि यही है विकसित, यही विमल विस्तार,
यही विराजमान हैं मेरे आत्मदेव अविकार। ५१

हरि तुम हरित हृदय के हार,
तुम शोभा, तुम कान्ति-दीप्ति हो, वैभव-विभव अपार।
तुम सौभाग्य - केन्द्र संसृति के, तुम छवि के श्रृंगार,
तुम रम्या रूठी रजनी के चन्द्रहार सुकुमार।
जो न किसी का, जिसकी जग में कहीं न सार-सम्हार,
उस अनचाहे के जगती में तुम्हीं प्यार मनुहार।
तुम मरु में जीवन, तम में शशि, तुम रवि शीत-मंझार,
ताप-तप्त वसुधा के बादल, पंकिल-नीर-निखार।
तुम भूले भटके के सत्पथ, तुम आशा - आधार,
तुम विषाद की स्मित-मुख-मुद्रा, दुख में सुख उपहार।
तुम नीरस के रस, मृत के मधु-अमृत-कलश साकार,
पतितों के उद्धार तुम्हीं हो, जन-हित दान उदार। ५२

तुम द्युतिमान, तुम द्युतिमान,
ज्योतिर्मय तुम दीप्ति—निधान,
अग्नि, तड़ित, आदित्य, तारका बनते तुमसे ज्योतिष्मान।
तुम प्रकाश के पुंज तुम्हारी ये किरणें लघु लोल,
कोटि-कोटि रवि भी न तुलेंगे अतुल तेज की तोल।
रवि क्यों ? अयुत अमित द्यावा भी हो जावें समवेत,
पा न सकेंगे तुम्हें देव ये, तुम हो तेज-निकेत।
वर्चस्वी-विभु तात ! तुम्हारी आभा-विभा महान,
ये उपमेय वर्ण्य जगती में तुम अवर्ण्य उपमान। ५३

तुम विश्व चेतना, विश्व प्राण ।
तुम जड-जगम के सचालक, तुम रम्य रमण, कल्याण, त्राण ।
तुम एक व्याप्त,हैं व्याप्य बहुत, अतिशय अद्भुत, अतिशय विचित्र,
युग्मो में जगती बटी हुई, कुछ शीत-उष्ण, कुछ शत्रु-मित्र ।
है कहीं कुसुम कोमल वन मे, है प्रस्तर सदृश कठोर कही,
है कहीं भ्रमर लोलुप रस का, मधुमक्खी त्याग-विभोर कही ।
जल सदृश तरल, गिरिवर सम दृढ, नभ सम विशाल, लघुबिन्दु सदृश,
नीरस ढेले हैं अस्तव्यस्त, क्यों इक्षु-दण्ड का हृदय सरस ।

दे रहे सुरभि पाटल-प्रसून, सौरभ-विहीन पर कर्णिकार,
रगीनी ले तितली नाचे, ढोता उलूक औदास्यभार ।

कोकिल की कल काकली कही, कर्कश स्वर देता काक कहीं,
भर्मर से ध्वजित वायु जहां, दूर्वादल हैं निर्वाक वही ।

श्रम से लथपथ, प्रस्वेद-मग्नि, मन्थर गतिवाले कृषक जहाँ,
गद्दी पर बैठे लम्बोदर नव-नवति-ग्रसित वर वणिक वहाँ ।

हैं दीन इधर, पद-दृप्त उधर, हैं शोषित-शोषक साथ-साथ,
नृप-रक, वक-ऋजु, पूत-मक, निर्भय-सशक, सभृत-अनाथ ।

ये रवि-मयक, ये अहोरात्र, ये शरद शिशिर, ऊष्मा-वसन्त,
चर-अचर-प्रसर कर रहा समर जिसका न कही भी ओर अत ।

यह द्विदलात्मक जो सृष्टि-युग्म है विविध-रूप अगणित अपार,
तुम सब के प्रेरक शासक हो, तुम विश्व-नियन्ता विश्वसार

तुम प्रबल प्रवाहण विभु सब के, सब चले जा रहे यत्र रूप,
ग्वाला की गायें बने हुये, नट की कटपुतली से अनूप ।

हे परम प्राण के प्राण देव, हे चेतन के चेतन महान,
दुखदग्धो के आनन्दकद, हे चिदानन्द, मगल-निधान । ५४

हे महातेज, हे महाशक्ति ।
हे शत्रुदमन, हे मित्रसदन, हे भक्ति-भवन, दिव्यानुरक्ति ।
हे बृहद् भानु, हे ज्येष्ठ सानु, वीरों में बलवत्तम वरिष्ठ,
हे सर्व-समर्थ, अर्थ-साधक, हे सूक्ष्म तत्व गुरु से गरिष्ठ ।
हे श्रुतिपथ–छेदक–उच्छेदक, हे दस्यु–हिंसकों के ताड़क,
दुर्वृत्त दानवों के दाहक, व्रतवर्जित व्रात्यों के वारक ।
हे अनाचारियों के त्रासक, हे अधम अशिष्टों के शासक,
हे सर्वग्रासियों के ग्रासक, हे धर्म-ध्वंसकों के नाशक ।
हे असुर–समूहों के घातक, हे रथी ! विघ्न–बाधा-बाधक,
वृन्दारक-वृन्द-विजय-कारक, हे अध्वरयज्ञ-समर-साधक ।
हे दुष्ट-दलन, हे भद्र-भरण, हे शान्त-शरण, मंगल-कारण,
हे करुणावरुणालय ! पालय, हे जन-त्राता, त्रिभुवन-तारण । ५५

तुम गुण-रहित, तुम गुणवान,
तुम अभेद तुम भेद-विभासित, तुम भव-विभव-समान ।
तुम अनादि, तुम अमृत, अजन्मा, तुम अनन्त, अम्लान,
निराकार तुम निर्विकार नित निर्मल, निखिल-निदान ।
तुम प्रमाण, तुम अपरिमाण हो, तुम ही प्राण-अपान,
तुम विरजा, विशोक, विश्वम्भर, तुम विधि, तुम विज्ञान ।
बंधन - कंपन - छेदन - भेदन - ग्रहण - विहीन त्रिवान,
तुम अरूप, सब रूप तुम्हीं में, तुम नीरस रसवान ।
तुम सत असत-परापर-वर्जित, तुम वासव, वसुमान,
तुम लघु से लघुतम, चेतनतम, तुम मिति-मान महान ।
तुम्हीं जनक, पालक, संहारक, तुम्हीं ज्ञान, तुम ध्यान,
तुम द्रष्टा तुम दृश्य अलौकिक, तुम धाता धृतिमान ।

तुम प्रेरक, तुम फल के दाता, न्यायी, दया-निधान,
विश्व-नियामक, विश्व-वशी तुम, विश्व-व्याप्त भगवान।
तुम कल्याण, प्राण, तुम मेरे मंगल - मोद - वितान,
मेरे धन, मेरे सर्वेश्वर, दुख - जलनिधि - जलयान।
फैले हुये यहाँ जन-हित-कर देव ! तुम्हारे दान,
जड़-जंगम सब खिल उठते हैं कर जिनका मधुपान।
गूँज रहे हैं इस उर-पुर में आज तुम्हारे गान,
आज तुम्हारी कीर्ति व्याप्त है रग-रग मध्य सुजान। ५६

तुम इस रज के पार।
यह रज-व्योम-वितत शिर ऊपर विविध-लोक-आधार।
भूमि चरण तो यह रज मन है, तुम सत विगत-विकार,
तुम स्वभूति-सम्पन्न, शक्तिधर, तुम में ओज अपार।
रज की तोड़-फोड़ से परिचित यह विराट ब्रह्माण्ड,
मन के संश्लेषण - विश्लेषण करते कितने काण्ड।
घर्षण करते रहते इनका जिससे हो जग - त्राण,
तम, -रज के ऊपर शोभित हो सत का शुभ कल्याण।
भूमि, भूमि पर वाष्प, वाष्प पर स्व सुख लोक विशेष,
स्व से ऊपर द्योतित है द्यौ, तुम सब के परिवेष।
तुम नीचे, तुम मध्य, तुम्ही से ऊर्ध्व लोक भरपूर,
सब में वर्तमान होकर भी, हो तुम सब से दूर।
तुम्ही नियामक इस जगती के, तुम्हीं वशी यमराज,
अपरिमेय तुम सब के मापक, सब के शोभा साज।
सब के रक्षण में तुम तत्पर तात ! सहित-अवधान,
अपनी रचना का हमको भी दे दो कुछ विज्ञान। ५७

द्वितीय सर्ग

# आत्म-पुरुष

कुछ कहते आत्मा भौतिकता का भाण्ड है,
उसमें वह सब, जिससे निर्मित ब्रह्माण्ड है।
कुछ कहते हैं, वह चिनगारी या लहर है,
कुछ कहते हैं, वह एक काल का प्रहर है। १

जब नष्ट भाण्ड तब उपादान में जा मिला,
चिनगारी पावक – मध्य बनाती सिलसिला।
जल में लहरों का पुंज, लहर जल एक हैं,
हैं प्रहर काल के भाग, विभाग अनेक हैं। २

दिक् – काल – मान्यता में बसती है कल्पना,
दिक्–काल–ज्ञान ही सत्य, शेष सब जल्पना।
दिक् के विचार में समय सत्य सा भासता,
पर काल – चिन्तना देती है चिति का पता। ३

यह चिति ही, चेतनता ही आत्मस्वरूप है,
यह अजर, अमर, आद्यन्तहीन वपु – भूप है।
अणु – सदृशी आत्मा पिंड – पिंड में व्याप्त हैं,
वे इस शरीर के संचालन में प्राप्त हैं। ४

पर वृहत अण्ड का जो संचालन कर रहा,
जो लोक – जीव – द्वय – मध्य प्रेरणा भर रहा।
जिससे जन्म – स्थिति – लय – प्रवाह जग में बहा,
वह ब्रह्म, वही भगवान, वही आत्मा महा। ५

परमात्मा – आत्मा – विहग, विश्व के वृक्ष पर,
आसीन, किन्तु उभयान्तर है बहु भेदकर।
परमात्मा द्रष्टा, विरत वृक्ष – फल – स्वाद से,
जीवात्मा भोक्ता कर्म – शुभाशुभ – वाद से। ६

जो खाता है वह अबल, अभोक्ता है बली,
यह लोक इसी नय – विधि से है जग में चली।
जीवात्मा भोगी विकल, शरण प्रभु की गहे,
तब हो विमुक्त जग के न कभी संकट सहे। ७

आत्मा के ज्ञान, प्रयत्न यशस्वी लिंग हैं,
फिर सुख – दुःख, इच्छा – द्वेष उसी के शृंग हैं।
ये उभय लिंग के ही परिणाम विरूप हैं,
चरितार्थ इन्हीं में जीवन के प्रतिरूप हैं। ८

सत – असत – ज्ञान सत – संगी जब बनता यहाँ,
तब तप – प्रयत्न – पुरुषार्थ सभी फलता यहाँ।
रथ व्यर्थ, हों न यदि अश्व – सारथी साथ में,
तनु व्यर्थ, हो न यदि ज्ञान – प्रयत्न स्वहाथ में। ९

कर देते हैं दुख – भार उभय इस लोक से,
पर आवागमन प्रसिद्ध ओक में ओक से।
प्रभु – मिलन सिद्ध है भक्तिभाव – आलोक से,
जीवात्मा होती मुक्त क्लेश – भय – शोक से। १०

इस भोगवाद में बनी विरहिणी घूमती,
दुख में भी सुख को समझ मोद से झूमती।
पर जब आ पड़ती शिर पर भीषण आपदा,
तब आती इसको याद पुरानी सम्पदा। ११

तब छोड भुक्ति, यह मुक्ति – पथ की खोज में,
चल पडती, जैसे जाता भ्रमर सरोज में।
तब ज्ञान - कर्म - भक्ति की त्रिवेणी तारती,
भारती भाव - मग्ना उतारती आरती। १२

प्रभु इन्द्र, जीव भी इन्द्र, इन्द्रियों के स्वामी,
वह परम पुरुष, यह आत्म पुरुष अन्तर्यामी।
प्राकृतिक दिव्य शक्तियाँ इन्द्रियाँ हैं प्रभु की,
रोदसी - मध्य संश्रव्य करण - कृतियाँ विभु की। १३

उनसे ही निज - निज भाग प्राप्त नरतनु करता,
इसका गोधन उस ईश - कोष से है भरता।
हैं दोनों ही अतिक्रान्त प्रकृति के वैभव से,
हैं दोनों ही निष्पाप, निरति - शय शैशव से। १४

हैं दोनों सयुजा - सखा कल्पकल्पान्तर से,
है भेद कराती प्रकृति नरोत्तम का नर से।
छविछटा दिखाकर, गाकर मादक श्वासों में,
कर लेती है आबद्ध प्रकृति निज पाशों में। १५

सब कहीं स्वर्ण - शृंखला, रजत के रज्जु कहीं,
हैं कहीं लौह के निगड़, मोद का नाम नहीं।
बन्दीगृह में पड़ जीव विवश परतंत्र दुखी,
क्या करे सोम का सवन ? स्वयं है परोन्मुखी। १६

आन्तरिक कोष से शून्य फाँकता धूल यहाँ,
दुख-दग्ध, व्यथा - वंचित, माया में भूल यहाँ।
मोहिनी मूर्ति माया की प्रतिपल बहकाती,
इसमें कैसा है विभव ? विभव तो प्रभु-थाती। १७

माया की मैत्री सदा जीव का ह्रास करे,
वह ज्ञान, भक्ति, सत्कर्म सभी में त्रास भरे।
वह तो विनाश की भूमि, मलिनतामयी महा,
उसमें अशुद्धि, अज्ञान, हान का घान रहा। १८

प्रभु कृपा हुई तो जीव मुक्त तम – बन्धन से,
रज में प्रविष्ट, करता विकास तन से, मन से।
चेतनता – केतन करे कोप से शक्ति मुक्त,
तट तोड़ बाढ़ ज्यों करे भूमि को श्रम – युक्त। १९

अहि जीर्ण त्वचा को छोड़ करे नव त्वक् धारण,
वैसे ही तम से निकल जीव कृति का कारण।
बन जाता है यह विविधि भूमियों का भर्ता,
कर सुरुचि कलात्मक–वसन–वयन, रजनकर्ता। २०

इसका सामर्थ्य विशेष, अशेष क्षेत्र – व्यापी,
इसका पुरुषार्थ – प्रताप स्वार्थ में परितापी।
परिणत परार्थ में विश्व - विमोहन मोहन सा,
कर देता है आप्यायित पृथिवी को घन सा। २१

द्वन्द्वात्मक रज से राग - द्वेष का चक्र चला,
जिसमें सुख - दुख का, प्रिय - अप्रिय का युग्म पला।
यह युग्म महा बलवान, पछाड़े वीर बली,
मानी अपमानित, जयी पराजित, दलित दली। २२

ललकार रहा यह सबको निज बल दिखलाता,
शीतोष्ण - क्षुधा - तृषा - जाल को फैलाता।
नर हर्ष - शोक में, लाभ - हानि में चकराता,
इसके सम्मुख बलहीन, विवश हो झुक जाता। २३

इस नति में आहत सत्व वज्र - सकल्प - धनी,
द्वन्द्वों की समता लिये, लिये सत - संग्य घनी।
जागृत होना है वह बलिष्ठ रिपु - सहारी,
उसकी अमोघ है सिद्धि, वृद्धि – वर्धनकारी। २४

उसकी सुन्दर आकृति, सुभग है अभिप्राय,
उसका वरदानी वीर्य, सफल आर्जव - उपाय।
वह जिधर चल पड़े, उधर विजय की वरमाला,
वह हटे जहाँ से, वहीं तिमिर - शासन काला। २५

आत्मा से जुड़ता सत्त्व, सुधा - वर्षा होती,
होता अभिनव निर्माण, चित्त - द्युति दुख खोती।
मन, बुद्धि, हृदय बनते आत्मा के अनुगामी,
सब पाप - पृतन्या प्रहत, धर्म धृति का धामी। २६

तब यह सुपर्ण, यह जीव स्नेह के सागर में,
करता विहार, झरता मुद यावर - स्थावर में।
परिपक्व ज्ञान से हृदय मिला नट नागर में,
उड़ रहा उजागर नभ में, मधु भर गागर में। २७

यह चाट रहा माँ को, माँ इसको चाट रही,
सत की स्थिति सबको प्रेम - मधुरिमा बाँट रही।
सब भूतों का मधु प्रकृति, प्रकृति - मधु भूत सभी,
अन्योन्य बनें सुख - स्रोत, साम्य - लावण्य तभी। २८

चल रहा यज्ञ, इन्द्रियाँ देव-गण से सम स्वर,
सब स्वस्थ, समुन्नत, अविकृत आत्मा के अनुचर।
ऋत पन्थ सुकृति में प्रकट, परम पावन, प्रशस्त,
कब बधिर, रुधिर - मदिराक्षि रख सके यहाँ हस्त। २९

सत्त्व में मधुर स्वर चल ब्रह्माण्डी वीणा के,
भरते द्युलोक में श्लोक विमल मल-क्षीणा के।
उस वितत पवित्र सहस्रधार से शुचि वाणी,
है सोम सुधा से पूर्ण, आत्म - द्युति कल्याणी। ३०

आत्मा भी सब आवरण - मलों से है अपेत,
वह क्रान्तदर्शिनी, क्रान्त कर्म से है समेत।
उसकी अमोघ चिन्तना विशेष प्रभाववती,
उसके उत्तम व्यवहार - शील, गति स्वस्तिमती। ३१

बल-दीप्ति, शवस-पूत, कर्म-ज्ञान पखों वाली,
वह स्थूल - सूक्ष्मशक्तियों - सहित शोभाशाली।
करती रहती बाधा विनष्ट द्यौ - पृथिवी में,
समतुल्य उड्डयन - क्रिया सफल प्रति पड्वी में। ३२

ले अपनी शक्ति अजीर्ण उड़ी रवि तक जाती,
उन दिव्यपथों सुकृती ऋषियों की गति पाती।
आत्मिक ईक्षण से जिन्हें पुण्य वरदान मिला,
निज शक्ति -बिन्दु से श्रेष्ठ ध्येय का कमल खिला। ३३

कृत-वीर्य, सुव्रत, जरदष्टि, ज्योति का कवच लिये,
विचरण करती यह उमा व्योम में सोम पिये।
हो जाती इसको सिद्ध विविध-ग्रह-गमन - शक्ति,
इसका है सफल महत्व, सत्व, दिव्यानुरक्ति। ३४

ज्यों आरण्यक-पशु - दिशा, ग्राम्य - पशु-दिशा भिन्न,
है एक पालतू, अपर जंगली शक्ति - छिन्न।
त्यों संस्कृत आत्मा भिन्न मलिन पापात्मा से,
सत रहता है संयुक्त सदा विश्वात्मा से। ३५

चल रहा विश्वलोपार यज्ञ पुण्यात्मा का,
या रहा निकटतम ऊर्ध्व लोक ऊर्ध्वात्मा का।
यह इन्द्र-सखा, शुभगति, निर्भय, वाजी, जेता,
यह सत्यश्रद्ध कल्याण - कलित, अच्युत - चेता। ३६

सत - रज - तम की संयुक्ति अवतरण की गाथा,
जिसमें आत्मा का रूप धूप से भीगा था।
होकर विमुक्त, आह्लाद-चंद्र की छवि पाता,
इसमें ही द्रष्टा - दृश्य - भेद सम्मुख आता । ३७

× × ×

स्वधा से गृभीत, जीव बहु योनियों में पड़ा,
प्राप्त करता है कभी ऊंचे, कभी नीचे लोक ।
विविध गमन - शक्तियों से युक्त घूमता है,
चूमता है चाव से सुचैन - चारुता के ओक ।
कर्म करता है दुख - मुक्ति, सुख - प्राप्ति - हेतु,
श्रम से थकित जब होता, तब लेता धोक ।
ज्ञानी हंस जैसा, कभी मानी है गरुड़ जैसा,
खंजन चपल, कभी प्रेमी बन जाता कोक । ३८

धर्माधर्म, पुण्यापुण्य, भव्याभव्य, शुभ्राशुभ्र,
सत्यानृत का है प्राणीवर्ग में द्विधा - विभाग ।
एक में हो श्रद्धा, दूसरे में हो अश्रद्धा,
एक में हो अनुराग तो अपर-मध्य हो विराग।
सत की प्रकृति जिन प्राणियों को प्राप्त हुई,
उनका यही है श्रम, उनका यही है याग।
आचरण द्वारा हो भरण ऐसी भद्रता का,
जीवन के पट में न हो अभद्रता का दाग । ३९

मानवों में सेवकों की संख्या है अधिक,
दीर्घ आयु, पुत्र, पौत्र की करें जो नित्य कामना ।
उनसे पृथक धन-लालची भरें जो गृह,
पशु-द्रव्य द्वारा दृश्य सामने लुभावना ।
कीर्ति के पिपासु भी यहीं हैं, प्राणदान द्वारा,
बल-वीर्य द्वारा करते हैं शत्रु-सामना ।
सबसे हैं दूर जगती में ब्रह्मज्ञानी कुछ,
भूरि-भू लोक-मध्य जिनकी सराहना । ४०

मानवों में आनन्दी वही है जीव, जो है युवा,
श्रेष्ठ, दृढ, पठित, सुशिष्ट बलवान है ।
वैभव से पूर्ण हो वसुन्धरा उसी की,
अधिकार में उसी के रत्न - राशि भी अमान है ।
भोग भोगने के शक्ति - साधन सभी हैं पास,
विषय - विलास - मध्य मग्न - मोदमान है ।
यौवन - विभव - साधनों की है अवधि एक,
मानव आनन्द का भी ध्रुव अवसान है । ४१

एक नरानन्द है, तो शतगुण गंधर्वी है,
किन्तु वह श्रोत्रिय, अकामहत हो सदा।
वाणी - स्वर - शब्द - साधना में दक्षता को प्राप्त,
नर से भी देव हों तो शतगुण सम्पदा।
मानव गंधर्व से है श्रेष्ठ देव कलाकार,
वासना से विरत कला है सुख - यशदा।
किन्तु मत बेचो, यह दैव-दैन है अमूल्य,
तुलती न इससे विभव-श्री भी कामदा। ४२

रक्षक पितर के समीप जो आनन्दधारा,
वह देव - गन्धर्व के पास भी न प्राप्त है।
जन - परित्राण में जो सुख मिलता है वह,
अपनी ही महिमा में जो उज्ज्वल उदात्त है।
किन्तु हों पितर यज्ञ - भावना से सँवलित
स्वार्थ - साधना में तो विनाश परिव्याप्त है।
यदि शूरवीरों को किया है क्रीत राक्षसों ने,
मानवता समझो, या विपन्न हो समाप्त है। ४३

पितरों से देव शक्ति सौगुनी सुखी है, किन्तु,
आजानज,, कर्म, शुद्ध देवों में विभक्त है।
एक से द्वितीय में, द्वितीय से तृतीय में भी,
सौ – सौगुनी अधिक सुवृत्ति अनुरक्त है।

एक में सिद्धांत तो अपर में , प्रयोग टिका,
तीसरे में दोनों का समन्वय सशक्त है।
देव ज्ञान – ज्योति के प्रतीक जीव कोटियों में,
जिनमें पिशाचिता - प्रभाव परित्यक्त है, ।४४

ज्ञानदेव विप्रों से भी ऊर्ध्व पद इन्द्र का है,
वही विघ्न-बाधा ज्ञान - पथ से हटाता है।
इन्द्र से भी सौगुना आनन्द गुरुदेव में है,
देव - मध्य दीप्ति से बृहस्पति कहाता है।
उससे भी अधिक प्रजापति सुखी हैं,
ब्रह्म उनसे भी बढ़ के प्रमोद - राशि पाता है।
भौतिकता - हीन जीव अभ्युदय को उलाँघ,
प्रेय छोड़ श्रेयस की क्रोड में समाता है।४५

जीव – श्रेणियाँ कितनी,
आत्म पुरुष के रूप यहाँ कितने हैं।
कवि अशक्त कहने में,
परम पुरुष के अमित विधान बने हैं।४६।

तृतीय सर्ग

## अवतरण

लोक रचना में हुए प्रवृत्त,
धामहित धामी के जब हाथ ।
प्रकट हो गया दिव्य द्यौ लोक,
निकल आई पृथिवी जल – साथ । १

वृत्ति फिर शीघ्र हुई उत्पन्न,
करेगा इनमें कौन निवास ?
बनेंगे सार्थक कैसे लोक ?
हों न यदि लोकपाल ही पास । २

तपाया एक वाष्पमय अण्ड,
फटा मुख खुला, चल पड़ी वाक ।
वाक से अग्निदेव का उदय,
प्रथम है जग में जिनकी धाक । ३

खुल गये युगल नासिका – रंध्र,
घ्राण से प्राण, प्राण से वायु ।
वायु से जीवन का विस्तार,
वायु से मिली सभी को आयु । ४

खुली आँखें, आँखों से दृष्टि,
दृष्टि से सूर्य तेज – संघात ।
कान खुल गये, कान में श्रवण,
श्रवण से हुई दिशायें ख्यात । ५

त्वचा से लोम, लोम से लता,
वनस्पति, ओषधि रोग - निदान ।
हृदय से मन, मन से चन्द्रमा,
शान्तिप्रद, शीतल, ज्योतिष्मान । ६

नाभि से खुल कर चला अपान,
चली उससे लय, मृत्यु महान ।
शिश्न से रेत, रेत से आप,
एक सम हैं आद्यन्त – निधान । ७

वाष्प थी जल मय, जल भी आप,
तरंगित एक, एक था तरल ।
उभय सम रूप, मध्य में किन्तु,
एक था वक्र, एक था सरल । ८

हुए इस भांति देव उत्पन्न,
भर गया जिनसे बृहत समुद्र ।
बुभुक्षा – तृषा सताने लगी,
दिव्यता मे निबलता क्षुद्र । ९

वासनावृत हो बोले देव,
कहाँ हम बैठ करें जल - पान ?
करें किस तनु मे हम सब रमण ?
तृप्त हो जिसमे भोजन – मान । १०

शक्ति ने किया सामने वृषभ,
अश्व फिर आया ले निज ओज ।
किये देवों ने अस्वीकार,
करो उपयुक्त देह की खोज । ११

हमारे लिए नही पर्याप्त,
न ये इस योग्य जहाँ हम रहें ।
हमारे दिव्य भोग के पात्र,
हमे दो, जिनसे निज रुचि कहें । १२

सामने तब मानवी शरीर,
हुआ प्रस्तुत, ले अपनी कांति।
देव - दल देख प्रफुल्लित हुआ,
मिलेगी इससे मन को शान्ति। १३

देवताओं ने किया प्रवेश,
देख उसमें निज रुचि के अंश।
देवताओं का पुर बन गया,
लगा आने गीर्वाणी - वंश। १४

वाक बन मुख में आई अग्नि,
नाक में प्राण बन गई वात।
अक्षिणी में आये आदित्य,
दिशाएं श्रोत्रमध्य अवदात। १५

हृदय में मन बन आया चन्द्र,
नाभि में किया मृत्यु ने वास।
मूल से चल फिर आये वहीं,
लगे करने सुर हास - विलास। १६

+ + +

जिसे कहते हैं गर्भ हिरण्य,
वही है ज्येष्ठ ब्रह्म तद्रूप।
पुरुष का वही बृहत आकार,
इन्द्रियाँ जिसमें दिव्य स्वरूप। १७

उन्हीं से प्रकट सृष्टि के बीच,
प्रकृति की वाह्य शक्तियाँ दिव्य।
देवता अग्नि, वायु, सूर्यादि,
इन्द्रियां परम पुरुष की भव्य। १८

निकल उस परम पुरुष से सकल,
मनुज – तनु – मध्य हुई आसीन ।
यहाँ है श्रद्धा, वहाँ है पूर्ण,
यहाँ है नव्य, वहाँ प्राचीन । १९

नव्य मे अशमयी नव्यता,
योनि से योनिमध्य अतिक्रान्त ।
प्रकृति के देव अहीन, अरोग,
चल रहे हैं कब से अश्रान्त । २०

बन गया मानवतन जब, वाह्य,
देवताओ का दिव्य निवास ।
लगे कहने धाता से तभी,
पुरातन युग्म बुभुक्षा – प्यास । २१

पुरुष मे कहा हमारा प्राप्य ?
बनें हम किसके भागीदार ?
'देव भोगों मे लो निज भाग' –
शक्ति का था सशक्त उद्गार । २२

तभी से भूख – प्यास सलग्न,
इन्द्रियो के भोगों के साथ ।
लोभ – लालसा, कोप – कामना,
अन्न – जल का अस्तित्व सनाथ । २३

\+ + +

प्रकृति ने पाया पुरुष – विकास,
मनुज मे हुआ प्रकृति - सकोच ।
सूर्य का चक्षुमध्य लघुरूप,
बृहत से पिण्ड, पीन से पोच । २४

यही नर - देह - मध्य अवतरण,
मिले मानव को दैवी अंश ।
बीज में शाखा - दल - फल - फूल,
फलों में निहित बीज का वंश । २५

बिन्दु में नर का पूर्ण शरीर,
गर्भ में पाता है परिपोष ।
सूक्ष्म में छिपा हुआ विस्तार,
अंश ही बन जाता है कोष । २६

इसी से कहते हैं ब्रह्माण्ड,
ब्रह्म का विकसित रूप सुरम्य ।
किन्तु नर के तन में है छिपा,,
यही ब्रह्माण्ड विशाल अगम्य । २७

यही भूमा का अणु - अवतार,
पिता की सन्तति में प्रतिमूर्ति ।
इसी से है नरत्व में निहित,
नवल नारायण की विस्फूर्ति । २८

\+ + +

देव जब लेकर निज - निज अंश,
इन्द्रियों में आकर बस गये ।
इन्द्रियों ने तब सार निकाल,
वीर्य में भरे अंग निज नये । २९

वीर्य में प्रथम, गर्भ से अपर,
पुरुष का जन्म पुरुष विध एव ।
ढलें टकसाली सिक्के यथा,
एक सम रूप, एक सम टेव । ३०

किन्तु ये देव, देवपुर व्यर्थ,
व्यर्थ इस अमरपुरी का साज।
व्यर्थ आशिक दैवी अवतार,
हो न यदि इन्द्रदेव का राज। ३१

पुरुष का गर्भ, पुरुष का जन्म,
प्राण से होता रहता पूर्ण।
किन्तु आत्मा से विरहित सभी,
सार से हीन धूल का चूर्ण। ३२

अन्नमयकोष, प्राणमय कोष,
मनोमय कोष, ज्ञानमय कोष।
न हो यदि इनमे आत्मनिवास,
कहो किसको देंगे परितोष। ३३

चक्षु की उससे दर्शन – शक्ति,
श्रवण करता है उससे श्रवण।
मनन मन मे उसके ही साथ,
बुद्धि लेती उसका आश्रयण। ३४

उसी से इन देवो मे भरे,
ज्ञान, प्रज्ञान तथा आज्ञान।
उसी से ऋतु, असु, वश, सकल्प,
उसी से प्रज्ञा का सस्थान। ३५

प्रकृति की सफल दिव्य शक्तियाँ,
हुई समवेत अर्चना – लीन।
पधारो आत्मदेव अधिराज,
तुम्हारे बिना सभी हम दीन। ३६

उठी ऊपर को देव - पुकार,
विनय से भरित द्रवित आह्वान।
उधर नन्दन वन की कांक्षिणी,
सजाती थी आत्मा निज यान । ३७

छोड़ कर निज प्रियतम का पार्श्व,
चल पड़ी देख पिप्पली - प्रभा ।
देव निज मन - चाहा पा गये,
हुई कृतकृत्य सुरों की सभा। ३८

देव नगरी को, टुक अवलोक,
तनिक ठिठकी, न मिला था द्वार ।
चिन्तना में थी आत्मा मग्न,
शीघ्र ही सूझा एक विचार । ३९

खुले हैं नगरी के नव द्वार,
लग रही जहां सुरों की भीड़ ।
न मेरे लिए उचित यह, चलूं,
तोड़ कर यदि इनके नव नीड़ । ४०

फोड़ दूं क्यों न विदृति मूर्धन्य,
बना लूं दशम द्वार रमणीय ।
इन्द्र हूं, क्यों न इसे कर दीर्ण,
करूं पुर में प्रवेश वरणीय । ४१

खुल गया विदृति नाम का द्वार,
हुआ तन्दत्त में आत्म - प्रवेश ।
जग पड़ीं सुप्त दिव्य शक्तियाँ,
प्रकाशित उनके पुण्य प्रदेश । ४२

शीर्ष का स्वर्ग - धाम खिल उठा,
हृदय का अन्तरिक्ष उद्‌भिन्न ।
नाभि से नीचे का भू लोक,
बना तन से प्रसन्नना - विलग्न । ४३

सभी को मिला सौख्य — संतोष,
प्राण ने पाया अपना प्राण ।
कल्पना - कल्पलता थी विसत,
कामना कामधेनु म्रियमाण । ४४

भावना थी अनुभूति — निमग्न,
ज्ञान के साथ कर्म - विस्तार।
चले मज्जा - प्रवाह को लिए,
विविध वैभव - व्यापी व्यापार । ४५

भोग थे स्वर्गिक सीमातीत,
प्रेम - सगमन, मधुर सवाद।
मधुर क्रीडायें, मादक नृत्य,
विमल वीणा के मधुमय नाद । ४६

दिव्यता मे करते सब वास,
दिव्य थे अशन — वसन — मधुपान।
दिव्य मदिर, शय्या थी दिव्य,
उपस्तर दिव्य, दिव्य अपिधान । ४७

दिव्यता के शेवधिपा देव,
भोग मे पाकर कर्म - विपाक ।
दिव्यता से धो बैठे हाथ,
छोड़ना पड़ा नवोदित नाक । ४८

सुषुम्ना की सीढ़ी से उतर,
पकड़ गोमुखी निम्नगाधार।
ले गये आत्मा को भी खींच,
हुये मधु - वंचित संचित प्यार। ४९

प्रपंचों के दल घिरते गये,
मार्ग में आते गये विकार।
ज्योति से दूर, निविड से निविड,
निकट थे अन्धकार – नीहार। ५०

ग्रन्थि पर ग्रन्थि जकड़ती गई,
उलझनों पर छाये उलझाव।
दृष्टि – गति पर छाई थी धुन्ध,
सूझ पड़ता न कहीं सुलझाव। ५१

फिसलते गये पैर पर पैर,
सम्हल पाये न एक भी वार।
किसे कब ज्ञात, पाप से विवश,
अमृत पुत्रों पर पड़ती मार। ५२

मर्त्य को समझ अमरता – लोक,
बनाया था देवों ने गेह।
ब्रह्मपुर उनका सार्थक बने,
बुलाया आत्मा को सस्नेह। ५३

किन्तु यह घोर नरक बन गया,
रहा जो कभी दिव्यता – गोष्ठ।
दुग्ध – घृत – ज्ञान – विवेक – विचार,
चूमने लगे आसुरी ओष्ठ। ५४

न श्रद्धा रही, न था विश्वास,
खल रहा था खलता का राज्य।
प्रतारण में करुणाकर कहा ?
बने थे क्षमा – तितिक्षा त्याज्य। ५५

क्रोध जब उठता था फुफकार,
दुबकती दया, सिसकता मौन।
प्रबल पीडन निज पैर पसार,
घेर लेता था कुंचित कौन। ५६

दैन्य – भय – त्रास – घटाए घोर,
हृदय – नभ में छा जाती भीम।
दमन – रत दानवता ने भरा,
चतुर्दिक अत्याचार असीम। ५७

योग की स्थिरता मिलती कहा ?
चपल चचलता चलती चाल।
रूप की प्यास, गध की भूख,
एक बुन देती ज्वाला – जाल। ५८

जल रहे थे धक – धक कर प्राण,
दबे दुर्भावों से सद्भाव।
अशुभ ने शुभ पर घेरा डाल,
किये मन मे मर्मान्तक घाव। ५९

अयोध्या के सुवर्ण पर बनी,
आज रावण की लका स्वर्ण।
राम की सीता अपहृत हुई,
कट गये वृद्ध गृद्ध के पर्ण। ६०

सुमति देने आया, तो पड़ा,
विभीषण पर भी पाद - प्रहार।
कहाँ हो अंगद, ओ हनुमान?
करो लंका को बंटाढार। ६१

अयोध्या की लक्ष्मी है पड़ी,
क्रूरकर्मा दानव - आधीन।
शान्ति का छिन्न - भिन्न साम्राज्य,
भटकती है सुर - संस्कृति दीन। ६२

विवश आत्मा - सीता के हाथ,
विवश है हृदय, बुद्धि आक्रान्त।
पराजित अपराजित यशमयी,
अवतरण से उन्नति - पथ भ्रान्त। ६३

हत - प्रभ, निष्प्रभ तेजस्विनी,
आज निश्चल से विचलित बनी।
हृदय शिर - कभी रहे थे एक,
आज उनकी विरोधिनी बनी। ६४

प्राण, मन, अन्न मित्र से शत्रु,
बन गये अपने ही पर - पक्ष।
प्रजा में फैला है विद्रोह,
जल रहा योग - क्षेम का वक्ष। ६५

आँख से ओझल क्यों हो रहा,
ब्रह्मज्ञानी, हितकारी यक्ष?
प्रकट कब होगा सम्मुख ज्वलित,
ज्योति से पूर्ण उमा का कक्ष। ६६

खुलेगा देव कोप कब मुँदा ?
मिलेंगे कब फिर सीता - राम ?
मरण में आवेगा कब अमृत ?
अयोध्या होगी पूर्ण प्रकाम । ६७

पराजित होगा रावण - पतन,
उन्नयन - राम जयश्री - युक्त ।
स्वर्ग में होगी ज्योति विकीर्ण,
बनेगी आत्मा बन्धन - मुक्त । ६८

भ्राजमाना यश से परिवृता,
ज्योतियावृता, प्रेम से प्लुता ।
अवतरण - क्षीण, विरहिणी दीन,
प्राणप्रिय से होगी संयुता । ६९

चतुर्थ सर्ग

# रचना

यह रचना, यह कल्पना कहो या कलना,
यह सृष्टि कहो माया, प्रपंच या छलना।
यह प्रलय - पुत्रिका, लय - जननी या ललना,
यह प्रकृति पुरुष की वधू, जीव का पलना। १

यह क्या है, कैसे और कहां से आई?
यह सुप्त रही तो किसने कदा जगाई?
यह थी अदृश्य, तो कैसे पड़ी दिखाई?
निर्मूल रही, तो क्यों शाखा लहराई। २

कहते हैं इसको मृषा, सत्य भासित क्यों?
यह पूर्ण व्यवस्था-खचित, नियम-शासित क्यों?
गति-नियति-बद्ध यह चक्र-तुल्य चालित क्यों?
उद्देश्य-लक्ष्य से प्रेरित, परिपालित क्यों। ३

यह सूर्य, चन्द्र, तारकावली ज्योतित क्यों?
यह ध्रुव, अरुन्धती अचल-प्रभा-पोषित क्यों?
सप्तर्षि-मण्डली मण्डल से मोहित क्यों?
यह दुग्ध-धवल ज्योत्स्ना क्रमशः शोषित क्यों? ४

लटके त्रिशंकु क्यों अधर-मध्य तापित से?
ग्रह चले जा रहे किसी शाप-शापित से।
आकर्षण में अन्योन्य खिंचे संहित से,
पर किसी विकर्षण में बाधित, व्यवहित से। ५

इनकी गति, इनकी दूरी नपी - तुली सी,
इनकी परिषद - पंचायत मिली - जुली सी।
ध्रुव ध्यान - मग्नता - मध्य वृत्ति बगुली सी,
कोई पढ़ ले यह पुस्तक पड़ी खुली सी। ६

इसकी जड बहते, द्यावा के ऊपर है।
शाखा - पत्रादिक अधोमुखी भूपर है।
दायें, बायें, सम्मुख पीछे विस्तर है।
कितना है, इसका ज्ञान गहन, दुष्कर है। ७

ऋषियो ने लगा समाधि तत्व कुछ जाना,
पढकर इसके ही नियम इसे पहिचाना।
विज्ञेय अन्त मे अविज्ञेय ही माना,
है जटिल ग्रंथि सा इसका ताना-वाना। ८

यह अण्ड और ब्रह्माण्ड समानातर से,
बनते हैं व्यष्टि-समष्टि प्रकारान्तर से।
बन गये विविध स्वर-पटल एक ही स्वर से,
स्वर-ज्ञान हेतु विज्ञान-बुद्धि भी तरसे। ९

रचना से पहले कौन तत्व प्रचलित था।
वह सत था अथवा असत, द्विभाव-चलित था?
थी अन्तरिक्ष की रज या व्योम स्वरित था?
या सब नीरव, निस्पन्द, कुहक मुखरित था? १०

किससे आच्छादित, किसकी चरण-शरण में?
क्या गहन गभीर अम्भ या रत रक्षण मे?
क्या मृत्यु रही सलग्न भाव - भक्षण में?
या अमृत तत्व या सजग स्वभाव-भरण मे? ११

क्या अहोरात्र, तम ज्योति, यहाँ गोचर थे?
ये श्वास और प्रश्वास प्राण-परिकर थे?
क्या विमल वायु के बहते स्वर सर-सर थे?
आवर्त-कुपित जल वीचि-विचल थर-थर थे? १२

ऋषि कहते हैं, कुछ नहीं, शून्य छाया था,
तम से आवृत तम बना हुआ माया था।
क्या कहें, वहां कोई न गया-आया था,
केवल अज्ञात, अगम्य, रहित-काया था। १३

फिर भी था कुछ आच्छन्न व्याप्त अविगत से,
जो आभु रहा अपिहित तव तुच्छ असत से।
वह आभु तुच्छ के ज्वलित तपोमय व्रत से,
हो उठा तत्त्व सा प्रकट प्रथित सत–ऋत से। १४

तप से भी पहले जगा काम अधिकारी,
यह मनन सक्ति का बीज, सृष्टि संचारी।
कवियों ने किया विचार हृदय – संस्कारी,
खोजी संत की शृंखला असत में न्यारी। १५

थे रेतोधा थे पुरुष कर्मफल भोगी,
थे महिमायें थीं भोग्य – भोग – संयोगी।
नीचे ऊपर था क्रिया – कलाप अरोगी,
यदि स्वधा इधर तो उधर प्रयति भी होगी। १६

उस परम तत्व से सत्व सभी को मिलता,
उसके आश्रय में अमन सुमन बन खिलता।
निकली है उससे जग की जाल–जटिलता,
वह प्रकृत, अन्य सब विकृत, विराट मलिनता। १७

वह तो निमित्त, पर उपादान क्या इसका?
कोई न समझता कौन, कहाँ से, किसका?
कब जान सके हैं भेद देव भी जिसका,
रचना भी उसकी, कार्यक्षेत्र भी उसका। १८

प्रज्वलित हुआ तप, जागी जभी सिसृक्षा,
ऋत–सत्यमयी चल पडी तभी से शिक्षा।
उस स्वर्ण-गर्भ में युगल मिले ले भिक्षा,
सीखी दोनों ने साथ – निवास – तितिक्षा। १९

इस हेतु पूर्ति होती अभाव की तत्क्षण,
सृष्टि का हेतु कण-कण का यह आकर्षण।
सत व्योम बनाता लेकर ऋत का वर्पण,
इसमें सब का उद्‌भव-लय सब का तर्पण। २०

यह अर्णवान, ध्वनिवान समुद्र कहाता,
इसका सहयोगी सतत समय – प्रमाता।
वह सहज विश्व का वशी विराट विधाता,
रचता है रजनी – दिवस काल का ज्ञाता। २१

रवि, शशि, द्यौ, पृथिवी का स्रष्टा वह धाता,
वह अन्तरिक्ष – स्वर्लोक – लोक निर्माता।
ब्रह्माण्ड चक्र के सम जो चक्र लगाता,
वह यथापूर्व निर्मिति में आता जाता। २२

माया – मायावी, प्रकृति – पुरुष का जोडा,
पाता है भाव – वियोग, योग में, थोडा।
समरसता करता भग्न काम का कोडा,
जब शिव ने लीला हेतु शिवा को छोडा। २३

तब प्रकृति–शिवा–माया की सुता प्रथमजा,
ऋत से निकली वह महत्तत्व की विरजा।
चल पडी महत् से अहम् विसृष्टि अपरजा,
तन्मात्रायें आ गईं मनोहर स्वरजा। २४

यह शब्द - स्पर्श - रस - रूप - गंध की गरिमा ,
आकाश - वायु - पावक - जल- पृथिवी-महिमा ।
तत्वों का पंचीकरण, भौतिकी जड़िमा ,
जड़िमा में जव, जव में द्रुति, द्रुति में लघिमा । २५

जो वाष्पमयी, वायवी दशा विज्ञानी ,
यह वायु - अग्नि की मिलित मूर्ति पहिचानी ।
जो तरल—द्रवित वह जल की सफल कहानी ,
जो ठोस, वही दृढ़ पृथिवी की सहदानी । २६

जिसको विशाल ज्योतिष्क — पिण्ड कहते हैं ,
उसमें सत के परमाणु - पुंज रहते हैं ।
ऋषि उसे हिरण्यगर्भ संज्ञा देते हैं ,
ग्रह - पिंड उसी से फूट, रूप लेते हैं । २७

सत से रज, रज से तम का क्रम निकला है ,
जो शक्तिवाद में फूला और फला है ।
यह प्रकट - गुप्त लेकर दो रूप चला है ,
जिसमें सन्निहिता कारण - कार्य - कला है । २८

यह स्वर्ण - गर्भ, महदण्ड, कार्य का कारण ,
यह तेजोमय सा वाष्प - राशि - संचारण ।
करता था चक्रित दिशा - दिशा का पारण ,
होता था उससे अग्नि - पुंज - संस्रावण । २९

उससे विकीर्ण हो तेज ज्योति—खण्डों में ,
परिणत होता था सूर्य - सदृश अण्डों में ।
अण्डों की परिणति होती ग्रह - पिण्डों में ,
कुछ बने उपग्रह इन्हीं पिण्ड - झुण्डों में । ३०

केन्द्रस्थ सूर्य की सब प्रदक्षिणा करते,
अपने-अपने सक्रमण-मार्ग पर चलते।
लेते हैं उससे ज्योति, उसी से पलते,
उसके साँचे में इनके साँचे ढलते। ३१

ऐसे अनेक हैं सौर-चक्र जगती में,
इनकी विभावना केवल किसी कृती में।
होता है मौलिक ज्ञान विवेक-व्रती में,
इनका सयमन-नियमन नियत यती में। ३२

बन गये विविध ब्रह्माण्ड रूप ले नामी,
ये नियम-बद्ध, सोद्देश्य, विशाल, अकामी।
ये स्वयं वह रहे, कोई इनका स्वामी,
वह इनके ऊपर, फिर भी अन्तर्यामी। ३३

किसके लिये बनी है ?
इसका सिद्ध प्रयोजन कहाँ टिका है ?
इसके भोग विभव का—
आकर किसके हाथों यहाँ बिका है ? ३४

\+ \+ \+

लोक, लोक के साथ यहाँ के विविध निवासी,
लिये चित्त-चैतन्य, चमत्कृति-चारु-विलासी।
लोक-ओक-तनु-पाशत्रयी में बद्ध प्रवासी,
भोग रहे निज भुक्ति कर्म-फल-राशि-सुता सी।

स्थावर,जलचर,पक्षि,पशु,कीट, मनुज के वपु विपुल
सब चौरासी लक्ष हैं,सूक्ष्म,स्थूल,कुठ कृश, पृथुल । ३५

शीत - ताप से रहित प्रलय की शान्त निशा में ,
थे सुषुप्त, जग पड़े, देख अरुणिमा उषा में ।
देव साध्य, ऋषि, मनुज निबन्धित कर्म-कशा में ,
ले निज - निज अनुभूति चल पड़े भोग-तृषा में ।
प्रभु-प्रेरित सबकी जगीं विविध शुभाशुभ वृत्तियां ,
दैवी नियमाधीन हैं, करण--भरण की नीतियां । ३६

देख रहे हैं देव त्रिलोकी में निज थल को ,
दीप्त, प्रज्वलित, अमित तेज की राशि धवल को ।
यह द्यावा, यह सूर्य हमारा मंजु निकेतन ,
चलें ज्योति में मिलें करें कीर्तन, नव नर्तन ।
बाहर तैजस द्रव भरा अन्तः जल-थल-पवन-भृति ,
इस निवास्यमें चल करें हम अपनी करणीय कृति । ३७

पूर्व कल्प के जो मुमुक्षु परमोत्तम प्राणी ,
पहुंचे तैजस - लोक - बीच ले दैवी वाणी ।
मध्य - प्रकृति - पर जीव बने नक्षत्र निवासी ,
भीतर बाहर जहां तेज की द्युति – समता सी ।
अवलंबित रवि पर रहें निज प्रकाशकी पूर्ति-हित ,
ये अपूर्ण में पूर्णिमा भरने के इच्छुक अमित । ३८

पृथिवी, मगल आदि लोक जो हैं तमसावृत ,
वाहर ज्योति-अभाव किन्तु अन्तर पावक-धृत ।
अवलवित ये सतत प्रभाकर के प्रकाश पर ,
प्राण प्रजा का वही प्रजापति प्राण-पु ज-धर ।
इन लोको में जो रहें उनकी कोटि निकृष्ट है ,
ज्ञान, कर्म, अनुराग की रहती वृत्ति विशिष्ट है । ३९

लोकों के अधिराज सूर्य मे प्राण प्रवलता ,
पर रयि की भी निहित वहां परिणाम-स्वल्पता ।
नक्षत्रों मे नियत प्राण की, रयि की समता ,
पृथिवी मे रयि रमी प्राण की यहा न्यूनता ।
जननी-जनक-स्वभाव से बना रहे ये विविध तनु ,
कुछ जरायुजन,स्वेदजन,उद्भिज,अडज, देव, दनु । ४०

पल - पल मे ब्रह्माण्ड विगडते हैं, बनते हैं ,
प्राण तथा रयि लोक - कोष के तनु तनते हैं ।
कारण-कार्य, विभाव - भाव निज स्वर भरते हैं ,
रमते हैं जग - बीच, कार्य विभु का करते हैं ।
जीव प्रकृति - परिधान मे उच्चावच चलता हुआ ,
कब से स्वधा-गृहीत है, ज्यो पिंजर-संस्थित सुआ । ४१

कारण - सूक्ष्म - शरीर - युक्त थे जीव प्रलय में,
बीजों में भर गये, पड़े निज–निज आशय में।
लोक–लोक में फैल प्रथम उद्‌भिज में आये,
वाष्प – वृष्टि ने अंकुर देकर हरे बनाये।
रविकर मिल जल-अनिलसे उद्‌भिज सृष्टि बना रहे,
तृण,तरु,ओषधि,वनस्पति,लता प्रमोद मना रहे। ४२

झड़े पत्र सड़ गये योग पानी का पाकर,
स्वदेज - कीट - पतंग हुये उत्पन्न यहाँ पर।
इनमें भी हैं जीव पिषित - पूतिक के पुतले,
भोग रहे हैं भोग वासनाओं के बदले।
पंकिलता में पल रहे, दुर्गन्धित वातावरण,
दलित दलों में कुछ करें, कुत्सित-दूषित-संचरण। ४३

ओषधि के अतिरिक्त सभी उद्‌भिज फल देकर,
कर विकीर्ण निज बीज जाति - रक्षण में तत्पर।
ओषधि देकर स्फीति एक मुरझा जाती है,
वही जरायुज, अंडज के तन में आती है।
ओषधि-फल,ओषधि तथा भूपर गिर रज को भरें,
परिवर्तित रज-शुक्र में शेष सृष्टि - रचना करें। ४४

सब का सूक्ष्म शरीर व्यक्त है बाह्याकृति में,
जैसा मन बन गया, प्रकट वैसा ही गति में।
खञ्जन, कोक, चकोर, मोर, पड्ढक अनूप हैं,
बाज, गृद्ध, मटनास, गरुड़ के पथ विरूप हैं।
हारिल,धौरी,पिक,महरि,शुक,मराल-पथ भिन्न हैं,
काक, बया, बक की दशा देख-देख खग खिन्न हैं। ४५

इधर जरायुज पशु भी बीती कथा सुनाते,
सरल - हिंस्र - मक्कार - भारहर - गाथा गाते।
इनमें गो, गज, वृषभ, हरिण आर्जव-मति वाले,
व्याघ्र, सिंह, शूकर, चित्रक, वृक कृति के काले।
अजा दिखाती चातुरी,मेष,महिष परहित-निरत,
गर्दभ ढोते भार हैं, कोमल पृष्ठ, कर्कश कियत। ४६

मानव से व्यतिरिक्त विगत सब भोग-योनियाँ,
मानव-उर में कर्म - भोग की युगल श्रोणियाँ।
एक मनुज स्वाधीन कर्म करने में अपने,
पराधीन हैं शेष, कर्म हैं उनको सपने।
ज्ञान,शक्ति,धन,श्रम बने मानव-भाग्य-विभागकर,
उतना ही ऊँचा उठे जो जितना है त्याग-पर। ४७

भू मण्डल पर सर्व–श्रेष्ठ है मानव प्राणी,
मानव का है श्रेष्ठ अंश प्रज्ञा – कल्याणी।
प्रज्ञा – मेधा – बुद्धि, प्रेम से पावन होती,
पा प्रभु का संयोग सकल यात्रा–श्रम खोती।
यही योनि है श्रेष्ठतर, यही स्वर्ग का द्वार है,
उचित हुआ उपयोग यदि तो भव–बेड़ा पार है। ४८

आकुंचन – प्रसरण – निमेष जैसा निम्नस्तर,
उद्‌भिज में है प्राण–प्रसर उद्‌गति–उदरंभर।
मन–विकास ले स्वल्प चतुष्पद वन में विचरें,
दूर–दूर तक ले उड़ान खग नभ में विहरें।
ये विशिष्टतायें सभी मानव के संस्कार में,
वाणी–बुद्धि विशेष है उसके प्रभा–प्रसार में। ४९

अद्‌भुत यह संगठन खड़ा नर भू–मण्डल में,
शिर ऊंचा कर देख रहा महिमा नभ–थल में।
तरु शीर्षासन - बद्ध, चतुष्पद - शिर लम्बित है,
उन्नत-नर-शिर में विराट का वपु बिम्बित है।
दृष्टि चतुर्दिक डाल कर ऊपर भी यह देखता,
ऊर्ध्व-प्रगति-उत्कर्ष की शुभ-शिव-रश्मि बिखेरता। ५०

इसी योनि मे जीव चतुर्विंशति-लिंगी है,
अग्नि तुल्य सब लिंग छिपाये तरु पिंगी है।
सब को दे आवरण अन्नमय कोष खड़ा है,
त्वचा, रक्त, रस, वीर्य आदि का बना पड़ा है।
सप्त-धातु-निर्मित यही सबके ले गोलक बढा,
चार कोष भीतर छिपे, यह सब के ऊपर चढा। ५१

सूक्ष्म भूत हैं पाच, पाच ही प्राण जहाँ हैं,
प्रथित प्राणमय-कोष-क्रिया-गति-स्तार वहाँ हैं।
पाच कर्म इन्द्रियां, अहकृति, मन को लेकर,
बना मनोमय कोष, सूक्ष्म तन्वी, प्राणेश्वर।
बुद्धि, चित्त, ज्ञानेन्द्रिया करती रहती ज्ञान-चय,
विदध अभिस्वर हो रहा, वही कोष विज्ञानमय। ५२

लिये यही चौबीस लिंग लीला विस्तृत है,
अन्न और अन्नादवाद का स्वाद स्वकृत है।
अन्न इधर है मर्त्य, उधर अन्नाद अमर है,
दोनों बने सयोनि, सम्मिलन लीलाकर है।
सत,रज या तम का लिये एक परम अणु सूक्ष्मतम,
कोष यहाँ आनन्दमय, सत्ता की सीमा चरम। ५३

उत्तम सात्विक जीव सत्व - आश्रय आनन्दी,
पाप-पुण्य-संवलित जीव रज - रमे अतन्द्री।
पाप - परायण अधम तमोमय मोद मनाते,
बन्दीगृह की तीन श्रेणियों में सुख पाते।
पर यह बन्धन सुख नहीं, निरानन्द है, फन्द है।
यहां नहीं स्वच्छन्दता, कष्ट - क्लेश का कन्द है। ५४

यह अन्तिम परमाणु एक आनन्द कोष का,
बन जाता है केन्द्र अमित दुर्दान्त दोष का।
चिपट इसी से जीव दूर हटता जाता है,
अपने पति से पृथक, असह संकट पाता है।
समीपस्थ परमाणु का परित्याग करता नहीं,
समीपस्थ ही देव से योग - याग करता नहीं। ५५

मुक्त प्रकृति से इसे देव - दर्शन यदि होते,
तो क्यों संसृति-सिन्धु-मध्य खाता यह गोते?
जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में दिन-दिन,
प्रकृति लगाती इसे मरण की मारें गिन-गिन।
सप्तांगी, उन्नीस मुख, वैश्वानर है स्थूल भुक,
बहिः प्रज्ञ जागर्ति में भोग रहा भव-भोग झुक। ५६

होना अन्न प्रज्ञ स्वप्न मे फिर सप्तांगी,
लिये वही मुख, पर विविक्त भुक्, तैजस रंगी।
जब सुषुप्ति मे एक मात्र अपना ही संगी,
स्वप्न - कामना - रहित, प्राज्ञ, चेतोमुख चंगी।
तब बनता आनन्द भुक, आनन्दी, प्रज्ञान-घन,
सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, शुचि सर्वोद्भव, सब का निधन। ५७

तब यह तम से दूर, दूर रज से, सत-स्वामी,
पुण्य श्लोक, पवित्र चरित से पाप-प्रमाथी।
पर यह आज्ञा-चक्र, पतन इससे संभव है,
परले पथ हैं दूर, अभी जगती का जव है।
जब प्रपंच का अन्त हो, भीतर-बाहर शून्यता,
तब शिव है, तब सिद्धि है, तब अद्वैत अनन्यता। ५८

पर यह अव्यवहार्य, यहाँ व्यवहार जगत में,
यहां चमत्कृति, चकाचौंध, चारुता-वितत में।
देख, देख लठचात, सृजन-सुषमा-आकर्षित,
विगत-कल्प के सम्स्कारों से प्रेरित-मोहित।
देव गये द्यौ लोक में, नक्षत्रों मे मुनि रमे,
देही देह-प्रधानता लेकर पृथिवी पर थमे। ५९

प्रभु करुणा से इन्हें तरुण तनु प्राप्त हुये थे,
अर्भक - शिशु - कौमार–योग अव्याप्त हुये थे।
अग्नि, वायु, आदित्य अंगिरा ऋषि भी आये,
ब्रह्मा को यजु–साम–ऋचामय वेद पढ़ाये।
ज्ञान-सरणि के साथ ही आचरणों की शृंखला,
विविध पथों में चल पड़ी संस्कृति-अनुकृति की कला। ६०

जो संसारी जीव भोगवादी थे पहले,
रुचि - रुचि लेने लगे स्वाद, भोगों में बहले।
काम-क्रोध में मग्न, चमत्कृति के ये चेरे,
बहने लगे प्रवाह - मध्य सुख–दुख के घेरे।
आ जाती थी याद भी कभी–कभी परलोक की,
किन्तु मोड़ पाती इन्हें कभी न चिंता शोक की। ६१

पुण्य–परायण रहीं इन्हीं में कुछ आत्मायें,
जिन्हें दुखद थीं, असहनीय थीं अघ–आख्यायें।
मर्यादा प्रिय इन्हें, इन्हें प्रिय सत–अवगाहन,
यज्ञ–याग प्रिय इन्हें, इन्हें प्रिय मंगल–साधन।
तन–संशोधन में जुटीं तप–व्रत द्वारा क्षीण–कृश,
निःश्रेयस की प्राप्ति में, पर भौतिकता से विवश। ६२

रही सहचरी सदा अभ्युदय की आकांक्षा,
धर्म–परायण, किन्तु मान–यश की भी वांछा।
प्राण प्रबल था, मन भी शुभ संकल्प धनी था,
पर असह्य अपमान शोकप्रद, संतपनी था।
शुभ–संवर्धन–शील थीं मनोवृत्तियाँ विमल वरं,
पर मैं–पन भी था प्रबल, शुभ–संकोची, विफलंकर। ६३

निःश्रेयस की प्रेमिका एक आत्मा मिली,
युग-युग की पीड़ा से जिसकी नस-नस हिली।
वह विकल भटकती इधर-उधर पथ खोजती,
अपने प्रिय की स्मृति के पद-चिह्न टटोलती। ६४

वह मन्त्र-पदों से मन में कभी विचारती,
फिर सोहं-सोहं-ध्वनि में उसे पुकारती।
ले स्नेह, ध्यान-वर्तिका, प्राण-दीपकवती,
वह कभी भक्ति-भरिता उतारती आरती। ६५

जग के भय, दुख, दशन देते संकेत थे,
पल-पल वियोग के, उभरे गगन-निकेत थे।
प्रिय के गुण-चिन्तन करते सतत सचेत थे,
उसके जप-तप पग-पग श्रद्धा-समवेत थे। ६६

इन्द्रिय-इन्द्रिय, अवयव-अवयव, प्रिय-मगन थे,
मन, बुद्धि, चित्त, धारणा-ध्यान-संलग्न थे।
इच्छा-अभिलाषा, भोग-विभव, सब भग्न थे,
उसके अब अन्त बाह्य करण सब नग्न थे। ६७

वह किसे छिपाती? छिपा हुआ जब इष्ट था,
वह किसे देखती? दृश्य अभीष्ट अदृष्ट था।
आकर्षण किसमें? मन प्रिय-प्रति आकृष्ट था,
भीषण भव उसके लिये अनिष्ट-अरिष्ट था। ६८

केतु — केतु से पकड़े,
उसने वे पद-चिह्न गुहा-वासी के।
क्यों न मिलेगा मेरा,
विनत वचन थे अविचल विश्वासी के। ६९

पंचम सर्ग

# विनय

## प्रकाश

दिन-दिन प्रकाश, क्षण-क्षण विकाश ,
कण-कण द्योतित दिव्याभा से, हो रहा सघन तम का विनाश ।
ये तैजस अणु, विद्युद्धारा, यह तारावलि, यह ज्योति-जाल ,
नीचे से ऊपर तक व्यापक यह महादेश, यह महाकाल ।
हम सब प्रकाश में स्नात सतत, पर विरत रहे, अनुभूति नहीं ,
बाहर से अन्तस्तल तक ढल जाती हममें आकृति नहीं ।
जग जाता यदि यह केन्द्र विन्दु, तो बाहर का झिलमिल प्रकाश ,
अन्तस से मिल कर थम जाता, रहता न कहीं भी ह्रास-पाश ।
चल पड़ती मैं विकाश-पथ पर सर्वोत्तम ज्योति प्राप्त करती ,
जिसमें द्यावा, विस्तीर्ण दिवा, रजनी-रागिनी नहीं चलती ।
यह चंचलता पाती विराम, यह गति, यह क्रिया समा जाती ,
वह सत्य शक्ति, वह सत्य उक्ति मेरा रक्षण करती आती ।
अन्दर प्रकाश, बाहर प्रकाश, अन्दर सविता का सुभग स्रोत ,
बाहर का क्षर, अन्दर अक्षर, है वही भवार्णव-पूत-पोत ।
हो जाओ मेरे देव ! प्रकट, हो दूर हृदय का अन्धकार ,
मैं दैवी जीवन में विचरूं दुर्वृत्त दनुजता को विदार ।

## पाप – निवारक

मेरे पाप – निवारक स्वामी,
मेरे बन्धन ढीले कर दो, मुक्त हो सकूं अन्तर्यामी।
उत्तम बन्धन शिर में मत का, जिससे ज्ञानानन्द रुका है,
उसको वहीं खोल दो ऊपर, खेल अनेको खेल चुका है।
मध्यम बन्धन हृदय बीच मे, राग-द्वेष फैलाने वाला,
बन्धन अधम नाभि से नीचे, तम से पाप बढाने वाला।
बन्धन-रहित, प्रकाश-पुञ्ज, हे देव! तोड दो बन्धन मेरे,
पाप-रहित होकर मैं जिससे, पालन करूं नियम सब तेरे।
मार्ग विमल हो, बनू व्रती मैं, प्रेम क्षेम की हो अधिकारी,
पावनता, ऋजुता, स्वतन्त्रता, समता हो मेरे सहचारी।

## अन्तर्यामी

मेरे अन्तर्यामी!
जिसमें तुम निवास करते हो, वह क्यो कलुषित कामी?
बाहर की बाधायें, प्रभुवर, हैं सब अन्त बाधा,
भीतर ही भीतर कृन्तन का कार्य इन्ही ने साधा।
बाहर से रोकूं, भीतर मे रोक कहा मैं जाऊं?
ये प्रहार करती भीतर से, कैसे मैं बच पाऊं?
निकल तुम्ही अब अन्त पुर से इनको निर्विष कर दो,
मेरे अन्तस्तल को अपनी शुभ्र सुधा से भर दो।

## कैसे आऊँ ?

कैसे आऊं तेरे पास ?
अल्प शक्ति, साधन थोड़े हैं, परिमित मेरे सांस ?
किस उपाय से तेरे मन को, वरण कर सकूं मेरे नाथ ?
सुखकारी हो तुझे कौन सी, मेरी स्तुति हे गौरव - गाथ !
कौन यहां है जो यज्ञों से, नाप सके तव शक्ति महान ,
किस मन से प्यारे प्रभु तुझको, अपनी हवि कर सकूं प्रदान ।

## क्या बोलूँ ?

क्या बोलूं क्या मनन करूं ?
कैसे जाप जपूं जिह्वा से, कैसे तेरा ध्यान धरूं ?
दोनों कान शब्द सुनते ही इधर - उधर को भग जाते ,
नेत्र रूप-रस चखने जाते, दौड़-दौड़ कर मद-माते ।
ज्ञान-रूप यह ज्योति हृदय में, स्थापित है जो सुखकारी ,
नेत्र-श्रोत्र के चुप रहते भी विषयों में फँसती भारी ।
दूर-दूर चिन्ता के विषयों में मन द्वारा मैं विचरूं ,

## सस्पर्श

तुम्हारा प्रभु शोभन सन्दर्श,
कब कैसे पावे मति मेरी, तव पुलकित सस्पर्श।
नव - नव नमन, नवल स्तुति निकलें चलें तुम्हारी ओर,
एक मात्र अभिलाषा इनकी, पावें करुणा कोर।
उजडी हुई बसे तव उर मे बन अनित्य से नित्य,
दूरी दूर हटे प्रभु! तुममे हो शाश्वत साहित्य।
जैसे कामवती जाती है, सती स्वपति के पास,
चली जा रही मति भी मेरी, पाने तव सहवास।
तेरी अनुकम्पा से होता, अघ - अभद्र - अपकर्ष,
यह अभागिनी अनुराधा सी, पावे तुझे सहर्ष।

## एकाकी

एकाकी! एकाकी!
मैं हरि! एकाकी!! एकाकी!!!
कौन यहाँ पर साथ दे सका? मिली कहाँ सुख-झाँकी?
मेरी कुटी पूटी पतिता की निर्जन-नीरवता की।
भमक, भमक उठती पल पल मे पाली चेतनता की,
चिन्तन मे आ जातीं स्मृतियाँ सखियाँ प्राक्तनता की।
भर जातीं घनघोर शून्यता सृति में नूतनता की,
कितने पायी सायी बन कर गये गैल गरिमा की।
मिली मुझे रमणीय ऋद्धि कब मजु महा महिमा की,
असत, वितत-रज छोड, ग्रहण की सगति सत-सुषमा की।
लुप्त हो गई किन्तु प्रपची - दल मे सिद्धि क्षमा की,
घेरे रहती मुझे निराशा भावी अघ अमा की।
सर्वनाश क्या सम्मुख मेरे? कहीं न प्रभा प्रमा की,
छिपे हुये हो, कब प्रकटोगे? होगी दृष्टि दया की।
मेरे शाश्वत, सत्य सखा तुम, विमल विभूति क्षमा की,

## याचना

हम मनुज मरण के उपादान ,
क्षण-क्षण कण-कण में निहित मरण की ओर जा रहे धावमान।
जब से रस-निधि से हुये विमुख, तब से नीरसता ने पकड़े ,
हो पूर्ण-काम से पृथक, कामनाओं के बंधन में जकड़े।
अध्यक्ष काम के हो न सके, अनुचर हो कुमति - कुगति पाई ,
अब तक दबते ही गये, उद्गमन की न यहाँ घटिका आई।
निम्नगा विषय-वासना बढ़ी, हम लगा न सके तृप्ति-ताला ,
बल-पौरुष इसने बेलगाम बढ़ कर अन्दर ही खा डाला।
जब-जब इसके अनुसार चले, तब-तब यह भभक बनी ज्वाला ,
उच्छृंखल हो सवेग फैला इसका उर में शासन काला।
आतंकित, आहत अवयव सब, अब यही एक याचना करें ,
इच्छाओं का उन्मूलन हो, या हम इनके ऊपर विचरें।
या हो इच्छा-उन्नयन, काम आशस में परिणत हो जावे ,
सरिता की उलटे धार, ऊर्ध्व गति द्वारा इष्ट सुफल आवे।
अथवा फिर मंगलमय, हितकर, शिव, भद्र शरीर काम पावे ,
जिससे शुचिता-दिव्यता-वरण बन सफल मनुज को अपनावे।
तब जरा-जरण या क्षरण नहीं, क्षण-क्षण विराम-दायक होंगे ,
जो रहते हैं शिर पर सवार, वे पैर पड़े पायक होंगे।

## विशाल बाहु

तुम्हारी फैली बाहु विशाल,
भक्त – दुख – दलन, हरन भव – जाल।
करें वे ध्वंस पाप का ताप, विघ्न - बाधाओं को दें ढाँप,
नष्ट हो कलप-कष्ट की छाप, दूर हो क्लान्ति-भ्रान्ति का शाप।
विगत हों द्वेष-दम्भ विकराल, शान्त हो अघ अराल तत्काल,
ओज से चमके उन्नत भाल।
मिले तव शरण वृहत् सुख-कंद,प्रभो, बल-ज्ञान- निधान अमंद,
लोक जो हैं विस्तृत स्वच्छन्द, द्वन्द्व से रहित, स्वस्थ, सानन्द।
जहाँ है अभय-ज्योति-प्रज्वाल, वहीं पहुँचा दो करो निहाल,
प्राप्त हो मंजुल मुक्ति रसाल।

## प्राण है एक

उठ रही मेरी वाणी आज, तुम्हारा पाने को सुख-धाम,
अरे, वह ऊँचा-ऊँचा धाम, जहाँ है जीवन का विश्राम।
विलग हो तुमसे, दुख से भीग, हृदय की करुण कामना कान्त,
विवश हो खोज रही है तुम्हें, रहेगी कब तक भव में भ्रान्त ?
दूर से दूर भले तुम रहो, खींच लावेगी किन्तु समीप,
विरत कब तक चातक से जलद, स्वाति से मुक्ता-भरिता सीप?
तुम्हारा विरद याद है मुझे, याद है मुझे तुम्हारी टेक,
तुम्हारी मैं, तुम मेरे सदा, देह दो, किन्तु प्राण है एक।

## निर्मलता

निर्मल कर निर्मलतम, हे !

मल–तम से प्रकाश आवृत है, हर लो हरे प्रबलतम, हे !
मल–आवरण तभी से छाये, जब वे क्षण वियोग के आये।
मैं समझी थी कौतुक इनको, पर ये ठग पग-बन्धन लाये,
लौट न सकी, पड़ी फंदे में, दूर हुये यम–संयम हे ! १

जो दर्पण सम दमक रही थी, चन्द्र तुल्य जो चमक रही थी,
आवरणों से अब धूमिल है, झलमल हो जो झमक रही थी।
अब प्रतिबिम्ब न बिम्बित होता, ध्वस्त हुआ छवि का क्रम हे ! २

माया मृषा, कर्कशा, मैली, अंग - अंग में फूली - फैली,
सब गुड़–गोबर किया इसी ने, मधु में घोली बटी विषैली।
रंग - भंग हो गया इसी से, फैले भोग - भुजंगम हे ! ३

अब न समीप विवेक - विमलता, कृति में कटुता, क्रूर-कलुषता,
अब न भक्ति की भव्य भावना, केवल कोप-कामदल-खलता।
राग - द्वेष का विकट बवंडर, अब न स्वस्तिकारी शम हे ! ४

कहाँ गया सौन्दर्य सुमन सा, गुण-गरिमा-महिमा-साधन सा,
चित्तवृत्ति केन्द्रित करने का काव्यरूप, मंगल वादन सा।
भाव विभव पाता था जिसमें, कहाँ गया रस–आश्रम हे ! ५

शुचि में अशुचि कहाँ से आई, पावन ने मलिनाई पाई,
राहु, केतु की केवल छाया, पर रवि, शशि ने ज्योति गँवाई।
मेरी ज्योति मुझे फिर दे दो, मिले सुहाग अचलतम हे ! ६

ऐसा हो मेरा परिमार्जन, झलके जिसमें प्रिय - द्युति पावन,
स्वच्छ बोध, ऋजु, रम्य कर्म हों, तब समीप पाऊं सिंहासन।
तेरी पावनता से मिल कर बन जाऊं उज्ज्वलतम हे ! ७

## दिव्यता

मन परख लिया हे देव ! दिव्यता नहीं यहाँ,
इसमें न सहन की शक्ति, क्षमाशीलता कहाँ ?
यह सर्प, छेड़ दे स्वल्प कहीं कोई इसको,
उठता है झट फुफकार, रोकता कब रिस को ?
प्रतिशोध-वृत्ति रमती है इसकी नस-नस में,
यह दूर - दूर जाता दशन - विष के वश में।
साधक कहते, मन-अहि मे आसुर वृत्ति भरी,
दुख पाती इस से प्रजा, व्यथित होती नगरी।
मन - नकुल दैव का इससे युद्ध प्रसिद्ध यहाँ,
अहि - दष्ट नकुल का ओषधि - ज्ञान समिद्ध यहाँ।
दंशित होकर बहु बार जड़ी से स्वस्थ बली,
कर देता अहि को नष्ट - भ्रष्ट ले जयावली।
यह दैवी मन क्यों पास नहीं मेरे आता ?
कर दूर द्वेष का दाह न द्युति क्यों दिखलाता ?
हे विश्व-वशी! आसुर मन को दैवी मन मे —
परिणत कर दो, मैं बनूं विजयिनी जीवन मे।

\+ \+ \+

मुझे दिव्यता वर दो, मैं उज्ज्वल,निर्मल तन से बन जाऊँ,
तुम जैसे निर्मल की, सयुजा सच्ची सखी यहाँ कहलाऊँ।

## कैसे निकलूं ?

तृषित पिपासाकुल प्राणी की प्यास मिटाने वाले,
मार्ग - भ्रष्ट उद्भ्रान्त पथिक को दिशा दिखाने वाले।
चलूं किधर से मुझे बता दो, लक्ष्य दिखा दो प्यारे,
भटक - भटक इस भवाटवी में मेरे पौरुष हारे। १

देखो, कोक थोक में मेरे अब भी अड़ा खड़ा है,
काम - विकारी प्रेमपाश में जटा - सदृश जकड़ा है।
यह वासना - विकल अंधा है, इसे न संयम सूझे,
जूझ रहा कामना - तृप्ति में, मति की बात न बूझे। २

इधर खड़ा है निर्दय वृक यह द्वेषी अत्याचारी,
हिंसक हो, अभिभूत क्रोध से; इसने निज मति मारी।
भीत-त्रस्त अपने ही इससे करते आज किनारा,
हृदय फाड़, रस चूस; बढ़ेगा और क्रोध का पारा। ३

यहीं गृद्ध भी घृणित बात में लगे हुये मँडराते,
ये परान्न - भोजी शोषण में कहीं न दया दिखाते।
चाहे सिसक - सिसक मरता हो कोई पीड़ित प्राणी,
इन्हें चाहिये मांस, पुष्ट हो इनकी लोलुप वाणी। ४

लटक रही उलटी, डाली पर यह उलूक की टोली,
यह प्रकाश से घबराती है मिले आंख जो खोली।
यह तामसी प्रकृति है, सत से घृणा सिखाने वाली,
इसने अपने अन्तस्तल में मोह - मालिका पाली। ५

अब आये ये गुरु-गर्वीले गरुड अधम, अभिमानी,
अहंकार में चूर, घमंडी ये मातल, मददानी।
इनके आगे कहीं न कोई, सब जग इनका ढेका,
धन-बल, जन-बल, बाहु-ज्ञान-बल सबका इन पर ठेका। ६

भूक रहे हैं इधर स्वान ज्यों मूर्तिमन्त मत्सर हों,
लड़ें परस्पर, ईर्ष्याधारी, द्रोह-दाह-तत्पर हों।
पूंछ हिलाते, पैर चाटते, हाय बिके अपरों के,
थूक चाटते, पले टूंक पर, आहट पाते चौंके। ७

यही नहीं, ऐसे ही कितने भीम भयंकर भारी,
मेरा हृदय कचोट रहे हैं ये दृढ-दंष्ट्रा-धारी।
कितने दुखद दृश्य, कितनी कटु इनकी स्मृति मानस में,
मिल कर कितना द्वन्द्व मचाते, टकराते आपस में। ८

तुम्हीं बताओ, कैसे निकलूं मैं इनके चंगुल से,
इनकी चौंथन-चबन-जलन से मेरे अवयव झुलसे।
किस बल-बूते पर आगे का पथ मैं पार करूंगी?
पार करो तो करो, अन्यथा दे अपकीर्ति मरूंगी। ९

●

षष्ठः सर्ग

# विरह

## व्यथित विरहिणी

मेरे मानस की कान्त किशोरी कामना,
इस सरल हृदय की भव्य भावती भावना।
मिल एक सूत्र में बँधी कामना - भावना,
मधु स्वाद चखेगी युगल - मिलन से कल्पना। १

यह विकल विरहिणी वर्षों 'बर - वंचित रही,
पर मंजु मिलन की टेक सदा सचित रही।
देखे तनु, भोगे भुवन, दिशा, विदिशा, मही,
पड़ भंवर जाल में कहाँ - कहाँ बिछुड़ी बही। २
कटु क्रोध, द्रोह, मद, मोह, लोभ लम्पट मिले,
पाकर जिनका संसर्ग नियम - संयम हिले।
थी पूत, चढ़े अघ–ओघ, आवरण आविले,
वे भाव दीप्त दब गये, सभी स्वर सोहिले। ३

शुचि सती दुखी री उठी; विरह, फिर खल खले,
हो त्राण कहां से ? अंग – अंग दुख ने दले।
तम इधर, उधर रज, रुद्ध मार्ग ऊपर तले,
सत आवे हो उद्धार, विकट संकट टले। ४

जागो, जागो, सद्भाव, काम वाजी बनो,
भागो, भागो, भीरुता ! पाप-पट मत तनो।
तू जाग कल्पना ! काम - भाव की संगिनी,
यह व्यथित विरहिणी पुनः परम-पति-प्रणयिनी। ५

पावे प्रिय प्रेम - प्रसाद बने संयोगिनी,
यह पुण्य-अघः से ऊर्ध्व लोक - गति रोहिणी!
यह धर्म, युक्त हों दो वियुक्त जिस कर्म से,
यह मर्म सुरक्षित देव - वरण के वर्म से। ६

## छिपा है मेरा कहाँ वसंत

विनय मे लीन, विरह मे दीन, क्षीण-काया, बल-साहस-हीन ,
अरे मैं चली जा रही किधर विवशता - विपदा के आधीन ?
कहाँ से कहाँ, हाय आ पड़ी ? गिरी या गई गिराई यहाँ ।
अधतम कारा को कर पार, आ गई सुमन खिले हैं जहाँ ,
नहीं हैं भीषण काले नाग, रौरवी मूर्ति धरे मनुजाद ।
नही हैं तप्त लौह छड यहाँ, काँपता मन कर जिनकी याद ,
गई यमराज-यत्रणा, किन्तु लगे हैं साथ अभी यमराज ।
न जाने कितनी यात्रा शेष ? बचेगी कैसे मेरी लाज ?
प्राण - प्रिय का कब होगा साथ ? कटेंगे बन्धन काल-कठोर ,
खिलेगा मलिन म्लान मन कभी प्राप्त कर उनकी करुणाकोर ।
आज भू-पर वसन्त की प्रभा, छिपा है मेरा कहाँ वसन्त ?
प्रकट हो, कर देता है क्यों न, आज ही, अभी, दुखो का अंत ।

### बसंत

अब न यहाँ रव रहा शिशिर-सीत्कार-गीतका ,
रही न हिम-श्वेतिमा, अन्त हो गया शीत का ।
अब सुवर्ण सा वर्ण पीत रवि के किरीट का ,
सुमन-सुमन पर नृत्य चतुर्दिक चचरीक का । १

यह वसंत में खिली उत्तरायण की क्यारी,
बीत गई वलि-वलित दक्षिणायन की बारी।
घटी प्रमादी रात्रि, बढ़ा दिन स्फूर्ति - प्रसारी,
जगी हृदय में माँ सरस्वती रस - संचारी। २

कवि–मानस में भाव–हंस फुदकें, किलकोरें,
हुलसें हिय हंसिनी, जमातें निज-निज जोरें।
उठ–उठ कर अनुभाव, तार तंत्री के तोरें,
सरस्वती के साथ हाथ विधि का झकझोरें। ३

आज खिल उठे अंग प्रकृति के फूले–फूले,
रोम–रोम में ह्लास–छटा, छवि झूला झूले।
भ्रमत भ्रमर सौरभित आम्र–मंजरी–वधू ले,
प्रेम–पगे सुख–सने पथिक अपना पथ भूले। ४

हरी–भरी वनराजि विराजित रंग–रंगीली,
मटर–चणक जौ–व्याज धरा की साड़ी नीली।
खिल सरसों दे रही वसंती आभा पीली,
सफल फसल निज देख कृषक की दृष्टि रसीली। ५

प्रकृति–कपोलों पर गुलाब की आब विराजै,
गेंदा की लालिमा अधर–द्युति देखत लाजै।
राशि-राशि खिल रहे पुष्प, उपवन-छवि छाजै,
नियति-नटी जिनसे स्वरूप की सज्जा साजै। ६

खिलो, खिलो ओ सुमन! खिलें सब-सुमन यहाँ पर,
हो प्रमोद, परिमोद, मोद की गोद सुधाधर।
मैं भी जिसमें बैठ परम पति के गुण गाऊँ,
अपने अविकच हृदय–सुमन को तनिक खिलाऊँ। ७

## सुमन

सुमन वन प्रिय-दूत आये ,
प्राणधन के पास रह कर परम प्रिय सदेश लाये । १

तुम प्रसन्न, प्रसन्न हैं प्रिय, जानकर फिर प्राण पाये ,
आज तक मे ज्योति फूटी, अरुणिमा-आशा सजाये । २

अकुरित होकर पुलक दो पलक - दल ऊपर उठाये ,
वायु से पथ पूछते हैं, पग गमन की लौ लगाये । ३

मृदुल पाटल भी तुम्हारे, सुरभि को अन्दर छिपाये ,
चुप पड़े क्यों, बोल दो, दो बोल प्रियतम के सुहाये । ४

प्रेम परिभाषा सुना कर पाठ जो प्रिय ने पढाये ,
मग्न तुम उनके स्वरस मे, ध्यान की मुद्रा चढाये । ५

यदि इधर दो-चार छीटे उस सरस रस के बढाये ,
तो समझ लूँगी किसी ने तप-सफलता-गीत गाये । ६

याद कर सदेश की कुछ मौन मे ही मुसकराये ,
आ रहे हैं, आ रहे हैं, अब न प्रिय मेरे पराये । ७

मौन मे ही ग्रन्थि - बन्धन के वचन तुमने सुनाये ,
मैं सदा सयुजा उन्हीं की, मन्त्र मन मे गुनगनाये । ८

## मेरी अमराई में

मेरी अमराई में — री सखि ! मेरी अमराई में
कूज रही क्यों आज कोकिला स्वर की शहनाई में ?

शहनाई के स्वर मादक हैं , मंजुल मंगल के वादक हैं ,
प्रिय की स्मृति के आस्वादक हैं , पाप-ताप के आच्छादक हैं ।
क्यों सचमुच प्रिय–मिलन बदा है मेरी मलिनाई में । १

अरे, न क्या यह मंगल वेला ? विरह-बाण कोकिल ने झेला ?
पंचम स्वर में वही अकेला ; बोल रहा - हा–हा की हेला ।
आ, समभागिनि, मिल कर भर दें, अश्रु–विरह - खाई में । २

क्या न यहाँ वासन्ती वैभव? प्राण-पिकी का यह सकरुण रव ?
उखड़ी साँस समीरण का जब ! फूल-फूल व्रण-अरुण रक्तस्रव ।
यहाँ कहाँ प्रिय ? सब कुछ अप्रिय, प्रिय की पुरवाई में ! ३

दिन पलटे पतझड़ के बीते ; पर मैं मृत अपने ही जीते ,
किसलय उधर, इधर रँगरीते ; आवें, यदि आवें मनचीते ।
डाल रही है मुझे प्रतीक्षा पीड़ा – परुषाई में ! ४

## पवन

पवन बन वाहन चलो, तुम ले चलो प्रिय पास।

वात ! गमनागम तम्हारा, दोल सा झकझोर प्यारा।
प्राण पाता पिंड तुमसे और यह ब्रह्माण्ड सारा,
प्राणधन पाने मुझे हैं, दूर उनका वास। १

योग होता योग से ही, भोग भागे भोग से ही,
तुम भिषग्, है ज्ञात तुमको, रोग लगता रोग से ही।
यत्न कुछ ऐसा करो, जिससे विगत हो त्रास। २

यह विशाल वियोग – यात्रा, है अदृश्य विराम – मात्रा,
मैं व्यथाकुल, शोक-सकुल, विकल, विह्वल, गलित – गात्रा।
यदि मिला दो प्राण – प्रिय से, दूर हो हृति – ह्रास। ३

यदपि तुम्हें कहते सदा – गति, देव ! दो मुझको शुभा मति,
वायु हो वारक बनो, मिट जाय अघ–अवरेव–संसृति।
सुमन – विकसनशील ! कर दो सौमनस्य – विकास। ४

विश्व – वन के तुम विहारी, श्रान्तिहर, विश्रान्तिकारी,
श्रान्त हूँ, मैं, क्लान्त हूँ, हर लो व्यथा की व्याधि भारी।
स्वस्ति में हो, शान्ति में हो, फिर विहार – विलास। ५

बरस रहा है रंग,
यहाँ की —
वीथी – वीथी गीली !

होली आई, होली आई, जो होली सो होली,
पर आगे की ग्रन्थि मानसी, कब थी तुमने खोली ? १

अब आता हूँ, अब आता हूँ, कहते हायन बीते,
हाय न जाने कब तक ऐसे, मेरे वासर रीते। २

बरस रहा है रंग, यहाँ की वीथी–वीथी गीली,
पिचकारियाँ छोड़तीं कैसी, धारा पीली–पीली। ३

मोद मनाते हैं नर – नारी अपने – अपने घर में,
ढप मृदंग पर फाग छा रहे कितने मादक स्वर में। ४

व्रज की होली चली अवध से, अङ्ग, वङ्ग में छाई,
राजस्थान, पंचनद ही क्यों, प्रभा सिन्धु ने पाई। ५

गुर्जर, महाराष्ट्र तक फैली, आन्ध्र, विदर्भ न भूले,
कन्नड़, केरल, तमिल रंग में घूमें फूले – फूले। ६

ओ उत्कल, ओ असम ! बता दो, किसने तुम्हें सिखाया ?
आदिकाल की आर्य प्रणाली, किसने इसे पढ़ाया ? ७

आज देश के कण–कण में है व्याप्त होलिका रानी,
आज कुसुम्भी, आज पलाशी, सरित सरों का पानी। ८

आज कलेवर में परिवर्तन, प्राण–हृदय–मन नूतन,
त्रिविध पवन कर रहे सृष्टि में मोद–वह्नि–संधूपन। ९

जड चेतन खिलखिला रहे हैं, किसलय–बाल मचलते ,
अक-लग्न लतिका-ललना के, कुसुम-किशोर चहकते । १०

फूलडोल है कहीं, कही पर, गीति-गोष्ठियाँ न्यारी ,
कब तक कहो रहेगी मेरी, सूनी जीवन-क्यारी । ११

लाखो विघ्न खड़े हैं पथ पर, कौन इन्हे पहचाने ?
कष्ट दे रहे हैं मर्मान्तक, अपने जाने - माने । १२

कब से भीषण भव-यात्रा मे, एकाकी दुख झेला !
तुम्ही बता दो, इस जीवन की कहाँ सुमगल वेला ? १३

मथुरा से गोकुल की दूरी, कहो दूर कब होगी ?
कब दर्शन–वाणी से मुकुलित हो आश्वस्त वियोगी ? १४

× × × ×

यदि अभिशाप - पाप आये थे, बनकर मेरे अङ्ग कभी ,
तो हवि मेरी ही लो होली ! हो प्रदग्ध दुख-दाह सभी । १५

मिसिल मसल डालेगी सबको, ह्विसिल बज रही ऊर्जा की ,
होली ! तेरी एक लपट ही, भभक बनेगी भूर्जा की । १६

वन-पल्लव-राकट पर हटकर, अणुबम-पुष्प प्रलयकारी ,
लक्ष्य बनाते इस शरीर को, होंगे ससृति – सहारी । १७

वह प्राचीन अमर्त्य बनेगा, असमीचीन मरण – धर्मा ?
पावेगा क्या कुगति कलुषिता,यह निरीह शोभनकर्मा । ? १८

दमकेगी क्या दीप्ति दानवी ? सिसकेगी दिव्यता यहाँ ?
घर्घर घोष उठेंगे नभ मे, कहो, रहेगी शान्ति कहाँ ? १९

नही, नहीं, आओ ओ होली, मेरी बलि ले सबल बनो ,
हाहाकार भस्म हो जिसमें, ऐसा ज्वाला–जाल तनो । २०

## ग्रीष्म

हिम में शीतल रूप तुम्हारा ऊष्म ग्रीष्म बन आया आज,
सौम्य सहन में उग्र तेज की आभा रही असह्य विराज।
कैसा घर्म अभीद्ध तप रहा, बरसाता है रवि अंगार,
जैसी ठिठुरन घोर, तपन का है वैसा ही तीव्र प्रहार।
एक चक्षु से जल देते हो, अपर चक्षु से पावक-दाह,
अतिशयता में भर देते हो तुम आकुल-आपत्ति-प्रवाह।
सरित, सरोवर, सिंधु सभी से ले रस, कर शोषण के कृत्य,
ग्रहण और आदान प्रबलता करती सार्थ नाम आदित्य।
दीर्घ दिवस की दारुण दावा, केवल दर्शनीय दिवसान्त,
बीच-बीच में धूमिल, चकित वायु-बवंडर, अंधड़, ध्वान्त।
नेत्र-निमीलन, काया-कुंचन, भोजन-भाव न, चमक-चबाव,
भाव-विभंजन, राग-विरंजन, केवल निशा-उषा में चाव।
कभी निषीदन, कभी विलेपन, छाया तन-मन में अवसाद,
छाया की छाया भी दुर्लभ, सुलभ ताप का विषम विषाद।

\+ \+ \+

जब निशीथिनी भी निशीथ तक झुलस-झुलस आतुर होती,
जब चेतनता शयन-विहीना आर्त अनाथ धैर्य खोती।
करवट बदल-बदल कट जाती रात्रि, शीघ्र पौ फट जाती,
क्षणदा क्षण भर भी न नींद के क्षण दे पाती, हट जाती।
यह विराम का प्यासा प्राणी, केवल यहाँ तृषा पाता,
बुझती है कब प्यास ? भ्रमाली मरु-मरीचिका में खाता।
मृगतृष्णा तृष्णा की तृष्णा कब से मेरे साथ लगी,
कब से यह कचोट, यह तड़पन, मैं पीड़ा के पाग पगी।
जब से उनसे पृथक हुई हूं घेरे हैं सर्व-ग्रासी,
क्या-क्या करना पड़ा यहाँ पर बन कर अरिदल की दासी।
पाश-बद्ध, पर चली आ रही, उनके दर्शन की प्यासी,
ग्रीष्म ताप तप, मिल जावेंगे, मैं निज प्रिय की विश्वासी।

## —० कब बरसेंगे ? ०—

मन–मीन विकल अति दीन
स्नेह के मेघ कहो, कब बरसेंगे ?

द्वेष – दवाग्नि – दग्ध उर – अन्तर
विरहातप – तापित तन जर्जर
काम – कलुप – कर्दम – हत विस्वर
अपरूप रूप प्राचीन, ।१। कहो कब०

झुलस – झुलस वीरान, तपोवन
श्री - हत, शोभा – विरहित, निर्जन
छाया – शून्य, विमलता – वर्जन
आनन उदास छवि–हीन ।२। कहो कब०

शुष्क सरोवर, म्लान - कमल - दल
दूर भ्रमर – गुंजन, खग – कल–कल
कहीं न धीवर - वंशी - हलचल
अब कहाँ पीन पाठीन ।३। कहो कब०

छा जाओ नभ बादल श्यामल
कज्जल - कलित कान्ति, वपु - मंगल
बरसो सुधा - भरित मधु परिमल
हो जीवित निधन - निलीन ।४।
कहो कब बरसेंगे ?

## दाह

हृदय में आह ! दहकता दाह
हे घनश्याम ! मिटेगी तुमसे चित - चातक की चाह ।

गृह, धन-वैभव, मान-प्रतिष्ठा इनका अमित प्रवाह,
क्षण-भर सुख की झलक दिखा कर देता क्लेश अथाह ।

विषय-विषाक्त, दुखद है इनका हे हरि ! सहज स्वरूप,
तुम्हीं हरोगे इस चातक की बाधा - व्यथा - विरूप ।

मलिन भोग आते, बहकाते, कर मोहक प्रस्ताव,
पर मैंने तो परख लिया है, इनका पाप - प्रभाव ।

द्वार - द्वार की धूल फाँक कर पकड़ा तेरा द्वार,
अब न भगाओ, नाथ ! हटाओ परदों के प्राकार ।

मेरा घर, मेरा बल - वैभव, तुम मेरे परिवार,
मेरे सुखदाता केवल तुम हे शतमख ! सत-सार ।

## वर्षा

उग आये, अंकुर उग आये ;
पुलक धरित्री ने भी पाये ।
मैं अभागिनी पथ निहारूँ, कब आवें मेरे मन-भाये । १

दाह-दग्ध पृथिवी की पीड़ा, देख जगी मायक - उर व्रीड़ा ;
दुखी हो उठे, चले ससंभ्रम, विस्मृत सकल दिव्यता-क्रीडा ।
दूर-दूर थे, पर दुख हरने आये धावा सैन्य सजाये । २

मार भगाया त्रासक तापी, दे न सकेगा पीड़ा पापी ,
अंग-अंग की जलन मिटा कर दी शीतल सान्त्वना अमापी ।
प्रिय को पाकर पुलकित पृथिवी सरस बनी, रस रंग रचाये । ३

अरे न प्रिय, देख व्याकुलता के, अश्रु झरे रहे व्यथा हंता के ,
चमक-चिलक है अन्तस्तल मे, किसी वियोग-विकल विधुता के ।
अंकुर नही, किसी ममता ने तोड़-तोड़ कर केश गिराये । ४

मैं समझी थी पुलकित धरती, वाष्पमयी यह आहे भरती ,
दाह-व्यथा मे तिरती फिरती, अपना अचल गीला करती ।
नीचे ऊपर दुख ही दुख है, कहीं न सुख के दृश्य सुहाये । ५

## तटिनी

तटिनी, तट है कितनी दूर,
मेरी मति-गति भ्रान्त हो रही देख-देख जल-पूर।

कभी डूबते, कभी तैरते, उतराते असहाय,
कभी बढ़ूँ आगे, फिर लौटूँ पीछे मैं निरुपाय।

साहस गया, निराशा छाई, फूल रहा है स्वास,
तन थर-थर-कंपित, मन-विथकित, रहा न बल-विश्वास।

विकल वीचियों से आन्दोलित तुझमें मन्थन-जाल,
विरह - वेदनाओं से विचलित मेरा उर बेहाल।

सखि! समानधर्मा तू मेरी कुछ तो दे अवलम्ब,
कब से प्राण पुकार रहे हैं, कितना हुआ विलम्ब।

## द्यावा पृथ्वी

यह हरि - वर्णा हरी-हरी भू, द्यौ भी देखो हरा - हरा,
दोनो की समतुल्य उमगे, दोनो का उर हरा – भरा।

एक - दूसरे से आवर्पित, हरे गये आसक्त हुए,
प्रेम-पाश मे, राग-रज्जु मे, बँधे आज अनुरक्त हुए।

द्यौ हरिधायस, भू हरि - वर्पस अन्दर - बाहर हरिमयता,
हरित-हरित विहरित हरिता में, हरि से मिली सदाशयता।

विचरो, विहरो, आस्वादन लो, उभय भूरि-भोजन-भागी,
हरित रश्मियो से आन्दोलित बनो परस्पर अनुरागी।

रोम - रोम मे रमें तुम्हारे हरि सताप - पाप - हारी,
तुम्हें प्राण दें, तुम्हें त्राण दें वे निर्बल - बल - सचारी।

तुम हरित्व मे रँगे हुए हिल्लोल भगे, किल्लोल करो,
मेरे हरि भी कभी मिलेंगे तुम हरि - आभा में निखरो।

## शरद (१)

गया नवरात्र, दशहरा गया,
गई मधु राका हर्ष — विभोर।
आ गई करवा चौथ मनोज्ञ,
भाग्य में भरती हृदय — हिलोर। १

आज सब पति के व्रत में लीन,
एक सौभाग्य — कामना — कान्त।
न जब तक निकले नभ में चन्द्र,
शयन — भोजन — पानक सब शान्त। २

यही व्रत, यही नियम, यह टेक,
रहे जीवन भर अटल सुहाग।
न जीते — जो हो कभी वियोग,
रहे अविचलित विमल अनुराग। ३

प्रिया : क्यों ? प्रिय का भी व्रत यही,
रहे यह युग्म सदा संयुक्त।
परस्पर रक्षा करते हुये,
रहें दोनों ही दुख से मुक्त। ४

लिये व्रत प्रकृति चली जा रही,
एक मन होकर एक शरीर।
हृदय से हृदय, प्राण से प्राण,
मिले हैं यथा क्षीर से नीर। ५

धृत — व्रत से है वह धृतव्रता,
चेतना से अनुप्राणित प्राण।
क्रिया में, गति में अनुरूपता,
इसी व्रत में उसका सत्राण। ६

अचल, परिपूर्ण, अखंड, अदाम्य,
सुरक्षित है उसका सौभाग्य।
प्रेममय आलिंगन में बद्ध,
उसे देखा करते हैं प्राज्ञ। ७

हो गया मेरा व्रत क्या भग?
मरण सा पीछे पड़ा वियोग।
हुआ अपराध, लगा अभिशाप,
भोग सब आज मुझे हैं रोग। ८

चलो, आओ, व्रत! मेरे पास,
बनूँ मैं व्रती, करूँ संकल्प।
न होगा प्रियव्रत मध्य विकल्प,
विगत हो विषम वियोग अनल्प। ९

## शरद (२)

अहोई, धन तेरस भी गई,<br>
न आये मेरे घन, अहिवात।<br>
शरद के पर्वों पर ये पर्व,<br>
अरे मेरे सूने गृह — गात। १

जलाती है प्रतिपल चाँदनी,<br>
दिखाते आँखें निशि के याम।<br>
चंडकर के प्रचंड कर मार,<br>
रुलाते हैं मुझको दिन वाम। २

क्रूर से क्रूर रूप के साथ,<br>
सुखाती सूखे तन को घाम।<br>
मारती तक—तक तीखे बाण,<br>
शरद सार्थक है तेरा नाम। ३

देख कर मेरे फूले नेत्र,<br>
उनींदे, अलस, जागरण — रात।<br>
व्यंग्य करती हैं सखियाँ खड़ी,<br>
उन्हें क्या ज्ञात हृदय की बात। ४

शरद की मनोहारिणी छटा,<br>
अमित सुषमा, उन्मुक्त विलास।<br>
खगों के गान सहज निर्बन्ध,<br>
खंजनों का वह प्रेम - विकास। ५

वन्य सौन्दर्य — राशि, रसकोष,
कहीं माधुर्य कहीं लालित्य।
कहीं लय, कहीं छन्द स्वच्छन्द,
कहीं मकरन्द — मधुप — साहित्य। ६

प्रकृति के ये अनूप उद्‌गार,
न जिनमे आडम्बर का अंश।
कांस-कुश लम्बे लघु लहलहे,
यशोमण्डित है पावन वंश। ७

यहां मस्तिष्क नहीं, है हृदय,
कहां फिर भय, शंका, षडयन्त्र ?
प्रकृति मे कहीं न ईर्ष्या—द्वेष,
न कृत्रिमता - कृतघ्नता - तन्त्र। ८

यहां झरनों का झर्झर नाद,
न यन्त्रो की घर्घर ध्वनि घोर।
यहां फूलों का कलकल हास,
न श्रमिको के रोदन का रोर। ९

कर रहा मधुर सुधा की वृष्टि,
यहां शशि की किरणों का रास।
नियन्त्रण में न यहां की प्रजा,
न शोषित को शोषक का त्रास। १०

हंस की छवि से हृदय उदात्त,
पंकिला यहाँ न पद की प्राप्ति।
यहाँ मानस के मुक्ता श्वेत,
विचारों की कालिमा — समाप्ति। ११

न वर्षा के वक नभ में उड़ें,
न होती झिल्ली की झनकार।
दिखा कर अपनी क्षण भर ज्योति,
गये जुगनू भी पख पसार। १२

आज है व्योम शुभ्र, भू शुभ्र,
शुभ्र तारक—चय, शुभ्र प्रसून।
रोदसी हास — लास से भरी,
छा रही मादकता अन्यून। १३

शरद के स्वर, लय, सप्तक तार,
मंद्र, मूर्छना, मधुर संगीत।
बने अन्यों के मंगल — हेतु,
आज क्यों सब मेरे विपरीत? १४

सरस वीथियाँ, सरस रीतियाँ,
सरस हैं लिपे — पुते गृह—द्वार।
सरस हैं पण्य, सरस शिशु—वदन,
सरस नर—नारी के शृंगार। १५

सरसता कण-कण मे परिव्याप्त,
विरसता है मेरा ही भाग।
मनाते हैं सब दीपावली,
बना है मेरा राग विराग। १६

कुहू की अलकों में है छिपा,
न जाने कब से मुप्त सुहाग ?
घुलेंगे कब पाकर प्रिय दृष्टि,
नरक की चतुर्दशी के दाग ? १७

मनाते मोद युवा, शिशु, जरठ,
देख मिष्ठान्न, खिलौने खील।
मनाऊँ मैं कैसे, अघमयी,
जड़ी है भाग्य-भाल में कील। १८

दीप ! तुम जगर — मगर कर रहे,
दिखा दो मुझको प्रिय का पथ।
सिखा दो वशीकरण के मत्र,
पढा दो प्रेमगीतिमय ग्रन्थ। १९

स्नेह में तिल — तिल जल कर तात,
प्राप्त होता है तुम्हें प्रकाश।
ज्वलित कर दो, ज्योतिर्मयि बनू,
दूर हों अघकार के पाश। २०

## शरद (३)

नभ आँगन चमके चाँदनी,
कोई रजत सुरथ पर बैठ आई मन-आह्लादनी।

यह शुभ्र तारकित ओढ़नी,
छवि छहर छहर रही फैल गिरि,तरु,सरि,सर,शोभनी।

छविवंती — रती — मन — मोहनी,
यह छिटक रही सब ओर गाती मादक सोहनी।

स्वर मधु — मिश्रित रस — चासनी,
लहरों में रिमझिम नृत्य, नयनों की शोभा घनी।

यह तन — मन — पोषक पावनी,
न्यौछावर हीरक हार, नव निधियाँ रस-स्रावनी।

यह मन — मणि प्रिय — हिय की वनी,
प्रिय होते देती दाति जो तेरी मन-भावनी।

## हेमन्त

हिम श्वेत, बनी मैं श्वेत, श्वेत प्रभु प्यारा है,
तम गया, गया रज, श्वेत सत्व की धारा है। १

कवि कहते प्रिय है शुक्र, भ्राज, स्व, ज्योतिर्मय,
वह निर्मल उज्ज्वल तेज, तारका – तारा है। २

यह दुग्ध – धवल ऊर्मियाँ चतुर्दिक उठती हैं,
प्रिय मानसरोवर – सोम जगत से न्यारा है। ३

ऋत-शुभ्र-श्वेतिमा आज सामने दिखलाती
बन रही कमलिनी-कुल-वल्लभ की कारा है। ४

अब नहीं शरद का मद, छद-क्षयिता वर्षा की,
वह ग्रीष्मकाल की लू कर गई किनारा है। ५

अब क्रिया-शक्ति मे साम्य-सौम्यता-छवि छाई,
समता का पुण्य प्रदेश न मीठा – खारा है। ६

उन चित्र शिखंडी ऋषियों का सा बल-वर्धक,
हेमन्त – कान्त ही मेरा एक सहारा है। ७

## शिशिर

यह शिशिर अरे भय खाता, झोंके झेलता,
जा रहा मन्द-कंपित-गति से किस ओर है?
यह अंग सिकोड़े, चादर ओढ़े, मुख ढके,
क्या सेंध लगा कर आया कोई चोर है? १

क्यों आग तापता, वक्षस्थल नीचा किये,
क्या कोई मर्मन्तुद मानसी मरोर है?
जड़काले ने जड़ सा सब को स्तंभित किया,
शर्वरी भरी है, अभी न आया भोर है। २

यह कभी सिमटता, सी-सी-सी-करता हुआ,
कोने में छिपता ले घबड़ाहट घोर है।
सरिता-सर के तट-घाट सभी सूने पड़े,
आक्रान्त वनस्पति, लता, द्रुमों का छोर है। ३

संध्या होते, पट बन्द, वीथियों में कहीं,
पड़ता न सुनाई जनता का रव - रोर है।
यह कोलाहल कानों में कैसा आ रहा?
कोलाहल क्या संक्रान्ति पर्व का शोर है? ४

सङ्क्राति, अरे सङ्क्रान्ति, हृदय-ध्वनि है यही,
दुख में सुख की आशा – सम्रमण – हिलोर है।
इस क्षोभ, घुटन, नीरव रोदन में शान्ति ही,
प्रिय – स्पर्शदायिनी जीवनमयी झकोर है। ५

\+ + +

सामने मेरे सघन नैराश्य का नीहार,
पुण्यपथ आवृत, दिखाई दे न वारापार।
नाथ, कर दो सूर्य बन कर प्रखर-किरण-प्रसार,
शीघ्र छट जावे कुहासा, हो सुपथ-विस्तार। ६

## सोया भाग्य जगा दो माँ !

सब के भाग्य खुले हैं, मेरा सोया भाग्य जगा दो माँ,
बाधा-विघ्न-व्यूह को मेरे पथ से दूर भगा दो, माँ। १

वह ईर्ष्या की बुकी खडी है, हरने को सर्वस्व अडी है,
मन में कोई घात पडी है, दंष्ट्रा काल-कराल जडी है।
इसके शिर में, मुख-ग्रीवा में खरतर खड्ग खगा दो, माँ। २

इसके दाव-पेंच से बच कर, मेरे प्राण चलें सत्पथ पर,
धोवें द्रोह-दाग रच-पच कर,बने हृदय-अम्बर शुचि,शुचितर।
पावनता का पाठ पढ़ा कर, मेरे प्रेम पगा दो, माँ। ३

कैसा घातक रंग चढ़ा है, विस्मृति का विष-वृक्ष बढ़ा है,
उर-नभ घन-मद-मत्त मढ़ा है, जीवन बन कर वक्र कढ़ा है।
इन्हें हटा राढ़ी - रागों से, मेरे रंग रँगा दो, माँ। ४

क्यों मुझसे भागी फिरती है, संशय-लहरों पर तिरती है,
पवन-झकोरों से घिरती है, रज के कण-कण में गिरती है।
फिर मेरी अनुराग - चूनरी मेरे अंग लगा दो माँ। ५

जिस पर चढ़ ऋषि देव पुरातन,पहुंचे ज्योति लोक में पावन,
जो साध्यों का सुभग सुखासन,जिससे प्रिय-पद-प्राप्ति सुहावन।
वह मन-भावन उड़न खटोला मेरे लिये मँगा दो माँ। ६

## देखें, कब ?

सखि कह दे प्रिय आते हैं,
मेरी हवि स्वीकार हो गई, अब वे अंक लगाते हैं।

तू ही बता किया कब मैंने क्या उनके विपरीत ?
अन्त भवन छोड़ जो मेरा, वे भागे अप्रीत ?
तब के पुलक कंटकित अब तक मन में धूम मचाते हैं। १

कब उनके वक्ष में छिपूंगी होंगे ताप समाप्त ?
अंग-अंग में रोम-रोम में होगा मादन व्याप्त।
देखें कब तक मुदित गौरिगण ऐसी ऊष्मा पाते हैं। २

चक्षु रूप-माधुरी पियें जब, श्रवण अनाहत तान,
अन्त बाह्य करें जब सब मिल व्यापक मधु का पान।
शाभव तथा मयोभव ऐसे किसे न स्वादु सुहाते हैं। ३

मेरे तप से कब तक उनका सखी, मिटेगा रोप ?
मेरा व्रत, मेरा सत उनको कैसे देगा तोप ?
क्या मेरे दुख-दशन-पीडन उनके मन को भाते हैं ? ४

कब प्रसन्न मन से झाकेंगे सखि वे मेरी ओर ?
उनकी दया-दृष्टि नापेगी मेरे दोष अथोर।
देखें कब सेवा के अवसर जीवन सफल बनाते हैं ? ५

## व्याप्ति

रस इक्षुदण्ड के पोर–पोर में व्याप्त है,
पर बिना चूसने के न किसी को प्राप्त है। १

अरणी में पावक, पावक में चिनगारियाँ,
चिनगारी का प्रज्वलन सभी को ज्ञात है। २

गो–स्तन में पय, पय में पूरित नवनीत है,
नवनी में घृत, घृत में जीवन विख्यात है। ३

पर मंथन, दोहन, श्वसन, प्रयुक्षण के बिना,
कब होता हमको अपने में प्रतिभात है? ४

जिह्वा में ध्वनि, ध्वनि में विचार की राशि है,
है वहीं भाव, विज्ञान, ज्ञान में आप्त है। ५

जब ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता तीनों ही हैं छिपे,
पर होती इन सबकी प्रतीति पर्याप्त है। ६

तब परमतत्व जो सत्व–सार, रसरूप है,
कैसे कह दें उसका अस्तित्व समाप्त है? ७

## पश्चात्ताप

मेरा राम यहीं अभिराम हृदय मे है रमा,
पर भक्तों की पूर्णिमा बनी मुझको अमा। १

जो पल-पल मे नेदिष्ठ, उसी से दूर हूँ,
कैसे मांगूँ अपने अपराधों की क्षमा? २

नभ में उमडे घन – घोर – मोह से आवृता,
मैं दबी, कभी उछली, डूबी शपा – समा। ३

मेरा रवि मेरे अन्तस में व्यापक रहा,
वह चीर न पाया सघन–पटल जडिमा–जमा। ४

वह कैसी वर्षा विषम विवशता सगिनी,
मन मेरा मथित, व्यथित भ्रम–जालों मे भ्रमा। ५

अपनी उधेड – बुन में बुन डाली ग्रंथियाँ,
चल चित्त उन्ही की करता रहा परिक्रमा। ६

मुझसी मति,मति सी गति,गति सी कृति आकुला,
मैं अपने ही में भ्रमी, बनी रसनोपमा। ७

कब अपनेपन को छोड रमूंगी राम मे?
कब अपने प्रिय की प्राण बनूंगी प्रियतमा? ८

## अनुताप

प्रिय प्रतिपल मेरे पास ( मैं ) पाकर पाती नहीं,
रह कर भी संतत साथ ( मैं ) संगी सँगाती नहीं। १

कर में करुणा का वरुणालय, भोग रही मैं घोर यमालय,
यद्यपि है सब ओर जलाशय, पर मैं आतप-तप्त, तृषामय।
रस-स्रोत स्रवित है किन्तु सरित सरसाती नहीं। २

मृगमद मृग में, भ्रान्ति डगर में, घूम रहा प्रान्तर-प्रान्तर में,
अपना अपने ही अन्तर में, व्यर्थ भ्रमण सूखे सागर में।
पर, निज को, निज में छोड़ अभागिन लजाती नहीं। ३

जला रहा कामना-प्रसर है, दग्ध कर रहा तृष्णा-ज्वर है,
क्षण-क्षण में अभाव का स्वर है, मन दारिद्र्य-दैन्य का घर है
मुझ शक्तिहीन में नाथ, शक्ति क्यों आती नहीं

प्रिय सब रत्नों के भंडारी, मैं दर-दर की बनी भिखा
निज से दीन, दैव की मारी, व्यथा सहेली मेरी प्या
बच कर चलती प्रिय ओर, ठोकर खाती

रहते अमृत सिंधु के सुख मे, पर जा रही मृत्यु के मुख में,
क्या इतना आकर्षण दुख मे ? क्यो न विकर्षण मेरे रुख मे ?
यदि होता तो प्रिय पास, भ्रम - भरमाती नही। ६

मैं निज पथ से दूर हो रही, सकल्पों की शक्ति खो रही,
मेरी कान्ति-प्रदीप्ति सो रही, प्रिय - प्रकोप के बीज बो रही।
मैं मलिन अशुचि व्रतहीन, पति को भाती नही। ७

प्रिय पाने की ले अभिलाषा, चली पूछने विधि-परिभाषा,
कौन चिकित्सक देगा आशा, हो निदान, बन सकू विपाशा।
कवि कहते, रूठे नाथ, तू उनको मनाती नही। ८

उनके चित मे वृत्ति रमाती, सेवा कर उनको अपनाती,
उनकी द्युति मे ध्यान लगाती, रुचि मे अपनी सुरुचि जगाती।
प्रिय करते करुणा कोर, तू अलगाती नही। ९

चलूँ आज श्रद्धा - सबल ले, प्रिय चरणो मे भक्ति विमल ले,
तजूँ प्रपच विराग अचल ले, बनूँ उन्हीं की उनका बल ले।
उनकी अनुरक्ति अमोघ दुख दिखलाती नही। १०

## कानों में पड़ी पुकार नहीं

मैं रोते – रोते मरी देव, कानों में पड़ी पुकार नहीं ,
है दृष्टि धुंध से भरी दीन, पग क्षत - विक्षत, सामर्थ्य–हीन ।
मन में न सहन की शक्ति रही, तन-करण विवशता के अधीन ,
उत्थान-गमन प्रतिहत समस्त, अवशिष्ट रहा आधार नहीं । १

जिन भोगों में थी रुचि विशेष, वे भोग बने भोक्ता अशेष ,
सबने मिल कर आक्रमण किया, दे रहे घोर से घोर क्लेश ।
थे सुगम, बने अनिवार्य अगम, बचने का कोई द्वार नहीं । २

कितना आकर्षक विषय-जाल, बन रहा आज बंधन अराल ,
आबद्ध, निपीड़ित अंग-अंग, सम्मुख प्रस्तुत विकराल काल ।
हे देव, तुम्हारे बिना मृत्यु - मुख से होगा उद्धार नहीं । ३

तुमसे वियुक्त जीवन के पल, भर रहे करुण क्रन्दन अविरल ,
मैं पश्चात्ताप – भरी पीछे देखूं अपनी भूलें निश्चल ।
बन गई भूल ही शूल, फूल सा पाऊँगी क्या प्यार नहीं । ४

तुम एक मुक्ति - दाता मेरे, आओ, आओ त्राता मेरे ,
यह एक विपल है विकट विपल, दौड़ो, दौड़ो धाता मेरे ।
तुम एक सार, यह सब असार, पकड़ूँगी अब निस्सार नहीं । ५

तुम जिसका चाहो त्राण यहाँ, उसका निश्चित कल्याण यहाँ ,
भय-त्रास-मरण भागें उससे, जिसके तुम रक्षक – प्राण यहाँ ।
तुम पूर्ण, अमर,अक्षर, अविकल, यह पलित-प्रपंच-प्रसार नहीं । ६

तुम प्रणत-भक्त के प्रतिपालक, इस अघ-सृष्टि के संचालक,
पा देव, तुम्हारा वरद हस्त, बन जाते जन अघ-प्रक्षालक।
तुम द्रष्टा - स्रष्टा जगती के, सुकृती की व्यर्थ गुहार नहीं। ७

फिर क्यों मुझको कलपाते हो? पल-पल मे विकल बनाते हो,
मुझ मृत को जीवन देने में इतना कैसे सकुचाते हो?
यह बने वियुक्ता संयुक्ता, पावे प्रिय, अप्रिय हार नहीं। ८

## उपालम्भ

तुम्हें बुलाते, तुम्हें बुलाते, मेरी वाणी मन्द हुई है,
जा न सका स्वर मेरा अथवा श्रवण - शक्ति तव बन्द हुई है।

मेरे देव, दूर तुम बैठे, कहीं निकट मेरे आ जाते,
उषाकाल में ऊपर से चल नीचे उतर दया दिखलाते।

तो तुम मुझे देख कर होते द्रवित, कृपा का कोष बढ़ाते,
जगज्जाल मे जटित, जरा से जीर्ण - शीर्ण जन को अपनाते।

पर तुम परम, अवम कब होकर, मेरी करुण पुकार सुनोगे,
चरण - पाश कर नाश, सुगमता-सौध बुलाने - योग्य बनोगे?

## जलन

दुख-दग्ध विश्व में ताप, न शीतल छाया,
इस काल-चक्र पर चढ़ी घूमती काया।
चिन्ता की चिता धधकती, इसे जलाती,
यह झुलस-झुलस असहाय पड़ी अकुलाती।

फिर एक नहीं त्रय ताप चित्त को घेरे,
लेने देते विश्राम न साँझ सबेरे।
कर याद तुम्हारी कितनी बार पुकारा,
पर टूट सकी अब तक न क्लेशों की कारा।

कब तक मैं वज्राघात सहूँ इस तन पर?
कब तक चिन्ता के वार सहूँ इस मन पर,
वह शर्म-वर्म कब नाथ, मिलेगा जन को?
कर पकड़ ले चलोगे कब शान्ति-सदन को?

मधु उत्स परमपद का कब मुझे मिलेगा?
यह मुरझाया मन कब तक देव, खिलेगा?
चरणामृत पाकर जलन शान्त कब होगी?
नैरोग्य करेगा प्राप्त युगों का रोगी।

## चिन्ता

पल-पल की आशा प्रहर-प्रहर मे बदली,
पाकर प्रहार पर हार, गैल ले अगली।
मैं चली सिसकती, गिरती पड़ती, पगली,
पर कौन बताता राह यहाँ पर परली? १

जिसने जो पथ देखा मुझको बतलाया,
मधुमास मिलेगा कहाँ? सही समझाया।
लेकर अभिनव अभिलाषा, अभिनव काया,
बढ़ती, पर लगती हाथ स्वप्न की माया। २

क्षण क्षण पर चढ़ी विफलता सम्मुख आती,
विश्राम कहाँ? मैं खड़ी-खड़ी बिलखाती।
आई प्रात वेला सुख-शान्ति सुलाती,
चिन्ता-सखियों को सध्या साथ बुलाती। ३

प्रहरों पर दिन, दिन पर पखवारे बीते,
पक्षों पर बीते मास, गये ऋतु रीते।
हायन पर हायन हाय न मैंने जीते,
जीवन बीता है, घूंट रक्त का पीते। ४

दिनरात न जाने कितने दुख में डूबे,
सब नष्ट हो गये बाँधे जो मनसूबे।
कितने जीवन बीते हैं ऊबे – ऊबे,
निःशेष क्लेश कब होंगे नस–नस–खूबे। ५

जय–वेला अब आई, अब आई करते,
सब गया समय आशा में मरते—मरते।
यौवन — वसन्त बीता है आहें भरते,
अब रिक्त हृदय — सर आँसू झरते — झरते। ६

कब सूर्य उदय होगा इस शून्य—गगन में?
कब विकसित होंगे सुमन म्लान उपवन में।
कब कुहू बनेगी राका नभ — आँगन में?
आवेंगे प्रियतम प्राण निहत — जीवन में। ७

## कैसे कहूँ किसी से प्यारे

कैसे कहू किसी से प्यारे ! मैं अपनी आपत्ति कथायें ?
फँसी हुई मैं क्लेश - जाल में, असहनीय ये पाश-प्रथायें।
जिन्हें समझ सुख अपनाने को जैसे ही आगे बढती हूँ,
वैसे ही अंकित उन पर मैं दाह – दग्ध अक्षर पढती हूँ। १

आदि—मध्य—अवसान सभी का घोर अमगलमय, दुखदायी,
जो रमणीय दिखाई देते, वे उर—मध्य विषम विषपायी।
इनके विकट पाश मे फँस कर प्राण घुटे जाते हैं मेरे,
कैसे निकलूँ, कैसे भागूँ, चारो ओर छा रहे घेरे। २

इनके घेरे सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से बने स्थूलतर,
ज्यों-ज्यो बढी, घिरी मैं त्यो-त्यो,इनके बारक दृढ कर पाकर।
नित्य मुक्त मैं आज बद्ध क्यो ? आज निरुद्ध शक्ति सब मेरी,
मैं असीम सीमित घेरो मे, मैं स्वामिनी बनी क्यों चेरी। ३

प्रिय से दूर - दूर कोसो तक एक भोग-लिप्सा ले आई,
पार्थिवता के बंध स्थूलतम, जिनमे पड निज शक्ति गँवाई।
दर्शन—श्रवण—शक्तियाँ सीमित, कहाँ गगन की मुक्त उडानें,
आज चूर्ण करने को प्रस्तुत भौतिकता की ये चट्टानें। ४

सीमित ज्ञान, कर्म भी सीमित, सीमित मेरी दिवा—दिशायें,
घेरे रहती हैं असीम सी तमोमयी नैराश्य निशायें।
परिमित भोग, भोग के साधन, तृष्णा-वर्धक, तृप्ति-विनाशी,
विस्तृत, उच्च, आत्म सुख कैसे, कहाँ मिलेंगे शान्ति—प्रकाशी ? ५

घोर भयंकर मुख भोगों का, इनकी घृणित गड़प—गीता है,
गर्हित भी सम्मान पा रहे, अग—जग सृष्टि कदन—क्रीता है।
कब अवसर्जन होगा इनका, कब शुभ कृति के द्वार खुलेंगे ?
कब स्वाधीन, विमुक्ति वायु में श्वास और प्रश्वास घुलेंगे ? ६

कब होगा अवरुद्ध स्वयं ही मेरी गति—कृति का अवरोधन ?
कब होगा प्रबुद्ध, परिवेदी, शुद्ध—विशुद्ध आत्म—अवबोधन ?
किस दिन दुख—जंजाल टूटेगा, पीड़ा पीड़ित हो भागेगी ?
त्राहि—त्राहि करती कर—बद्धा विपदा प्राणदान माँगेगी ? ७

## निशा के तारक

तारक लुक—छिप करते आते,
क्या तुम भी मुझसे भय खाते ?

दिन भर की थकी, पकी पीड़ा, मैं स्वयं त्रस्त, अपरूप—ग्रस्त,
संध्या में बिखरी अलक देख, हो उठे संकुचित—भीत—त्रस्त।

आगे पग रख, फिर फिर जाते।

तुम अभी-अभी रजनी-मुख पर अभिनव-अभिनव से छाये हो,
यह बाल रूप है छुई मुई, पड गई दृष्टि, सकुचाये हो।

क्या इसीलिये हो शरमाते ?

नभ नही, अरे यह निशा-विरहिणी का है उर उत्ताप-भरा,
तारका नही, ये विस्फुल्लिंग, जिनमे दाहकता-शाप भरा।

क्या जोड रहे मुझसे नाते ?

मेरा भी उर अगार-भरा, है धधक रहा तुप-पावक सा,
चुगता है मेरा स्नेह-भाव जिनको चकोर के शावक सा।

क्या यही भाव तुमको भाते ?

मत बनो निराश निशा-रानी, तव विरह-अवधि की सीमा है,
मेरा तो विरह चिरन्तन है, जिसकी असीमता भीमा है।

रहते मेरे क्षण-क्षण ताते।

धीमे-धीमे आ जाते हैं, तेरे प्रिय मुझे सुहाते हैं,
तू राग-रग मे भर जाती, तारक मणिहार बनाते है।

प्रिय तुझे साथ लेकर गाते।

मेरे प्रिय का कुछ पता नहीं, किस देश गये क्या करते हैं ?
तेरे प्रिय जाते देश–देश, जल–थल में शोभा भरते हैं।

कुछ समाचार उनका लाते ।

कहते हैं, तेरे प्रिय मेरे ही प्रिय की आँख बने घूमें,
उनसे ही लेकर सोम–सुधा मादक अलमस्ती में झूमें।

मेरे प्रिय किस में मद - माते ?

कितनी स्मृतियाँ तेरे उर में, किस-किस युग की किस-किस पन की,
क्या याद तुझे वे कल्प, चली जब यात्रा मेरे बन्धन की ?

क्या वे कल पाते कलपाते ?

## छिप रहा कहीं

इन पीले–पीले परदों में,
इन रूप–विकारी गरदों में।

छिप रहा कहीं प्रियवर मेरा मन–मंथनकारी दरदों में। १

रमणीय रसीले रूपों में,
कमनीय कान्ति के कूपों में।

रम रहा कहीं मेरा रहस्य सुषमा के सुन्दर स्तूपों में। २

रोमांचक फुही – फुहारों में,
जल – मग्निता दीर्घ दरारों में।

करता है कुछ संकेत मिलेगा इन कूलिनी – करारों में। ३

झंझा के झटित झकोरों में,
मारुत की मद मरोड़ों में।

मादकता–मिश्रित परिमल के पवमान – प्रमोदी मोरों में। ४

नीरवता में, स्वर–गुंजन में,
इस व्योम-व्याप्त सन-सन-स्वन में।

निर्जनता में, शून्याचल में, निर्मूक मौनता के मन में। ५

वह कविर्मनीषी, विश्व–वशी,
वह ज्योति–केन्द्र, वह चारु यशी।

छिप रहा दीप्तिमय,पर अदृश्य,ज्यों शशि-अदर्शना चतुर्दशी। ६

वह इस हिरण्यमय भाजन से ,
मोहक मायावी छादन से ।

अपिहित है,संवृत विवृत कहाँ? जब तक न मुक्ति मृतिमादन से। ७

वह तत्व, सत्व का सार, मूल ,
मुझ प्रवाहिता का एक कूल ।

इस विप्रकृता, सर्वांग-नग्नता का लज्जा-रक्षक दुकूल । ८

प्रकटो प्रकटो, मेरे रहस्य ,
त्वं क्वासि तथा कतमोऽसि कस्य ?

तुम हो अदृश्य,पर बन जाओ,मुझ विरह-विदग्धा-हित सुदृश्य । ९

## संध्या

यह नीरव संध्या, श्याम याम ,
इसके पीछे आती कोई काली – काली विकलांग वाम ।

भय से खग भाग रहे घर को, पशु-कीट-वनस्पति भयाक्रान्त ,
अवसाद छा रहा पृथिवी पर, सब क्रिया-कर्म एकान्त शान्त ।

निस्पन्द वायु मण्डल में यह कटु संवेदन सी साँय-साँय ,
हृत्तारों को छू – छू जाती उपजाती भीषण भाँय-भाँय ।

रस का प्लावन, उन्नयन, द्रवण सब बन्द अगति की कारा में,
हो रही विभीषण उथल–पुथल लहरों में, अन्तस् धारा में।

उर–प्रागण में जम रही जड़ें युग–युग से संचित पीड़ा की,
फैलाये काले केश आ गई रात्रि कालिका–क्रीड़ा की।

आतंकित–शंकित तेजपुंज हो खण्डित पड़े नभस्थल में,
इनके अवलम्बन ज्योतिहीन जा गिरे निराश रसातल में।

मेरी आकुल आकांक्षायें कुछ लिये ज्योति की जिज्ञासा,
पथ पूछ रही, प्रिय किधर, किन्तु अवरुद्ध हुई तम में श्वासा।

यह रात्रि, अरे यह काल रात्रि, डस गई समग्र धरातल को,
द्यौ–अन्तरिक्ष के साथ कहाँ फिर छोड़ेगी मुझ निर्बल को।

## कुहुकिनि !

कुहुकिनि, कहाँ छिपाये हो ?
मेरी ज्योति, प्राणधन मेरा, किसके अंक लगाये हो ?

मायाविनि यह कैसी माया असत अनृत फैलाये हो ?
मेरे सत को, मेरे ऋत को, भाँग भरे भरमाये हो।

कुहुक–जाल के ऊपर ऊपर कितने परत चढ़ाये हो ?
गहन और गम्भीर बनाये कितना भेद बढ़ाये हो।

मेरे प्रिय, किस अन्तःपुर में कितने भीतर छाये हो ?
कुहुकिनि के ये कुहुक कहाँ से मुझे भुलाने लाये हो।

दूर हटा दो, भीति भगा दो, तुम रवि-ज्योति जगाये हो,
निकल पड़ो, तम कहाँ टिकेगा, तुम ही इसे टिकाये हो।

इस मिथ्या का वल ही कितना, तुम ही सवल बनाये हो,
स्थूल-सूक्ष्म-कारण परदों में तुम्हीं छिपाते आये हो।

छोड़ो मान, प्रकट हो जाओ, क्यों अब तक तरसाये हो,
मेरे दुख का अन्त नहीं क्या? या भ्रम-बीच भुलाये हो।

## : उषा :

तुम उषा, कैसे कहूँ, तुम ही उषा:?

उर – दहन के दग्ध तारे – ओस में हैं अश्रु-खारे,
हैं पड़े नैराश्य – अलकों में अभी तक फंद न्यारे।

है अभी निस्तब्धता-निर्भर निशा।

तम गया, क्या ज्योति आई? यति गई, क्या प्रगति पाई?
शयन में क्या जागरण की छवि-छटा सोल्लास छाई?

शान्त है क्या प्राण-प्रिय-दर्शन-तृषा?

कालिमा में यह अरुणिमा, अरुणिमा में स्वाप-तनिमा,
अरुण-चूड़-पुकार कहती, मत इधर आओ मधुरिमा।

प्रिय–प्रवेश–निषेध–रेख अलबुषा।

प्रेम–पथ की तुम निराशा, तुम वियोग – कुयोग – माया,
क्या नहीं अवशिष्ट उर में कुछ दया, करुणा सदाशा?

मूर्ति ममताहीन, क्रूर, निरंकुशा।

लालिमा की यह गहनता - द्वेष की ही क्या सघनता?
उठ रहा नभ - मध्य पावक, अर्चियों का जाल तनता।

सह सकूँगी मैं न अब अन्तक-रुषा।

अर्चि - वीचि प्रवेग - भरिता, अतहीन स्रवत सरिता,
यह वियोग - विभावरी मे जा रही बेसुध, विचलिता।

कौन इसका है व्यथावेधी वृषा?

ख्यात तुम अनिरुद्ध - जाया, जो अहंकृति में समाया,
प्राप्त आसुर बाण काया, किन्तु आर्य - प्रभाव छाया।

दिव्य प्रभु प्रद्युम्न की तुम हो स्नुषा।

तुम उषा हो तो जगाओ, स्वप्न के संकट हटाओ,
प्रिय मुझे मेरा मिले, कुछ युक्ति सखि, ऐसी जुटाओ।

तब उषे, मेरी बनोगी सजुषा।

उषे, विनिद्र बटोही,
श्रम से चकनाचूर खड़ा विदलित है।
इसे तनिक आश्रय दो,
दृष्टि तुम्हारी सदय, ममत्व-सहित है।

## प्रातःकाल

आया था वह प्रात चितेरा प्रिय-छवि अंकित करता,
अंग—अंग में रंग—रंग की अभिनव आभा भरता।

केश फुनगियों में उल्लेखित, अधर उषा—अरुणाई,
नयन कमल में, तारक अलि में, चित्रित सुन्दरताई।

उड़ते खग निज पक्ष पवन भर, पलक मारते स्वामी,
ओस-आर्द्र-दूर्वा में क्षालित मुख-छवि विधु अनुगामी।

श्रवण सीपि में, शाखाओं में बाहु प्रलम्ब पसारी,
रोम—रोम बिस—तन्तु—जाल में, हृद में नाभि उतारी।

माथा द्यौ में, कान्ति किरण में, पसली सरिता-तट में,
पाटल-मध्य कपोल-ललिमा, काया-छाया वट में।

अंगुलि किसलय में द्युति पाती, नख शेफालि-सुमन में,
फैला दिया भानु ने उनका यश-प्रकाश त्रिभुवन में।

## प्रतीक्षा

कागद पर ढल-ढल रिक्त तीव्र उद्‌गार हुये ,
टप-टप गिर कर रस-बिन्दु रसा की क्षार हुये ।
चिन्तन चिन्ता मे क्षरित, विचित्त विचार हुये ,
उद्विग्न, खिन्न, उद्‌भ्रान्त, क्लान्त आचार हुये । १

आती है उषा उनीदी अरुणिम नेत्र लिये ,
उत्साह, उमग विलुप्त, विरागी वेष किये ।
आते हैं पूषा पोषण पर शोषण व्रत ले ,
वे जले भुने से स्वय दाह—रोपण—व्रत ले । २

आती है सध्या तमोमयी, विक्षोभमयी ,
खग-नीड-बसेरा कहाँ ? यहाँ आक्रान्त क्षयी ।
यह देखो क्षण-क्षण क्षीण चन्द्रिका दिखलाती ,
क्या मेरी भी आ रही अमा, यह बतलाती । ३

दिन तो दुर्दिन, पर क्यो सदोष दोषा मेरी ?
तारक मिस व्रण पर व्रण, विपन्न, विपदा-घेरी ।
विश्राम कहाँ ? आ गई पूर्ण-विश्रान्ति-बला ,
सब रोग—शोक—दुख दूर, दूर चैतन्य चला । ४

मैं दूयमान, अप्रीयमाण, जड सी जड़िता ,
सज्ञा—चेतना—विहीन, मूक, दूर्वा दलिता ।
सब सीदमान हैं गात्र, अधर तक सूख रहे ,
मैं क्या हूँ, कैसे कहूँ ? कथन के कोट ढहे । ५

\+ \+ \+

प्रतीक्षा ने चिन्ता का रूप, कर लिया धारण हे हरि, आज,
व्याधि का सूत्रपात हो गया, निकट ही अन्तक का भी राज। ६

तुम्हारी ही इच्छा हो पूर्ण, भले ही गल जावे यह देह,
न छूटे जन्म–मरण में किन्तु तुम्हारे पद–पद्मों का स्नेह। ७

## निराशा

पथ दुर्गम, अक्षम पद मेरे, अब न चला जाता, हे नाथ,
इस पथरीले, इस कँकरीले, इस कंटकित कुपथ का साथ।
तुम्हीं छुड़ा दो, मेरे वश के बाहर है निष्क्रमण निकाम,
निबिड - झाड़ - झंखाड़ चीरते चर्म, बनाते हैं क्षुत्क्षाम। १

कब तक इनका करूँ सामना, कैसे इनसे निबट सकूँ?
तिरछे, टेढ़े–मेढ़े, उलझे, इनमें उलझी, खड़ी, झकूँ।
मुख सूखा, रूखा तन, अटकी, भटकी मैं झख झेल रही,
हिंस्र ऋक्ष, वृक, शूकर सब से बच कर, रेला ठेल रही। २

पर अब यह सब सहा न जाता, मेरे त्राता, आ जाओ,
कब से खड़ी पुकार रही हूँ, मुझ अबला के बल आओ।
यह नैराश्य निगलने वाला, मैं बलि–पशु सी अवश खड़ी,
निकट अन्त मेरे जीवित का, प्रबल प्रमाथी–हाथ पड़ी। ३

× × ×

निशिचर-निकर निकट है,हे द्यो-वासी,झपट झटित आ जाओ ,
वेला विषम, विकट है, असुर-दमन[1] आकर मुझको अपनाओ । ४

## काल जयी

प्रति पालक मेरा एक, अनेक – सकामयी ,
मैं मरण–जाल मे फँसी, रहा पति काल – जयी । १

उसके पालन, उसके रक्षण, उसके वे अमोघ सुख–वर्षण ,
उसके वे मंगल आकर्षण, उसके सान्द्र स्नेह–सश्लेषण ।
आती है अब तक याद प्रसाद – प्रकाश – मयी । २

जब से बहकी, तब से बहती, नाना विषम यातना सहती ,
दया–द्रवित किंचित हो कोई, उससे अपनी बीती कहती ।
इस कथन – श्रवण मे स्वेद – दाप – अनुताप – त्रयी । ३

मिले मुझे बहुतो के आश्रय, दे न सका कोई सुख अक्षय ,
सब के साथ लगे ये मुझसे स्वार्थ – साधना के सुद्राशय ।
मेरे दुख, दुख ही रहे, कहाँ दुख – राशि – क्षयी । ४

एक गया सब के साधन मे, मिला न कोई मन का इनमे ,
सब ने अपनी बात बनाई, रही ताकती विफल विमन मे ।
मैं परख चुकी परिणति सब की है घाततयी । ५

क्या सुख देगी मुझे विवशता ? रोग-रुग्ण, जर्जरा, आहता ?
भरी हुई इसके कण-कण में करुणा-क्वणित कृपण-कातरता।
क्यों रहूँ अनेकाश्रयी बनूँ फिर एक — श्रयी। ६

'सब तज हरभज', टेक चले फिर,चंचल मन मेरा हो सुस्थिर,
बरसें ज्ञान-भक्ति के वारिद रिमझिम-रिमझिम स्वर में घिर-घिर
फिर मिले वही प्रिय एक, दूर हो द्वन्द्व — द्वयी। ७

पुन:प्राण-रयि,ऋत-सत मिल कर,उस अभीद्ध तप से हों समस्वर,
ऋचा व्योम में, व्योम सोम में, सोम ओ३म में तन्मय सत्वर।
पवमान करे पवमान प्राण - चैतन्य - चयी। ८

टूटे तार वियोग-तिमिर का, ज्योतिर्मय हो द्वार सुषिर का,
द्वा-पर-रहित, एक-सम, तत्पर, रहे न शासन कहीं दिविर का।
फिर मिले ज्योति में ज्योति, शुभ हो शुभ्रत्रयी। ९

## कौन माने यहाँ

क्यों हो किसको विश्वास तुम्हारी मैं प्रिया ?
मैंने तो निज सर्वस्व तुम्हें पा, पा लिया।
पर कहूँ किसी से यही, कौन माने यहाँ ?
जब तक न तुम्हारी प्रेम-प्रथा जाने यहाँ।

वचनो मे मत, कृतियो मे दर्शन दो मुझे,
सयोग - पिपासा तभ आर्त जन की बुझे।
मांगता नही प्रतिदान प्रेम, यह सत्य है,
पर प्रेम प्रकट हो बल दे, यह भी तथ्य है।

बलिदान प्रेम मे निहित उभय - पक्षी सदा,
मेरी बलि, तेरी याग - कथायें सौख्यदा।
जाने जग, आहुतियों का अनुमोदन करे,
मगलमय तेरे दान, समर्थन - स्वर भरे।

प्रिय से अभीष्ट ऐश्वर्य प्रिया को जब मिले,
तब उसका ही क्यों जन-उर का पकज खिले।
तेरी यशगाथा भक्त - हृदय - गाथा बने,
तुझको देखें, पावें तेरे जन सामने।

यदि इस पथ को कर विफल, विघ्न व्यापें कभी,
तो बाधा - वारक विरुद व्यक्त कर दो तभी।
तुम तो हो श्रुत - प्रख्यात वृत्रहन वेद मे,
गति सिद्ध तुम्हारी भक्तों के भय - भेद मे।

पा जावें प्रबल प्रमाण, शत्रु स्वीकृत करें,
मेरे तेरे सयोग छिद्र - क्षति को भरें।
तब सभी कहेंगे जीवन यह कृतकृत्य है,
इस असत विश्व मे एक प्रेम ही सत्य है।

## विचारणा

मैंने वियुक्त हो अहमिति से योजन किया,
यह मैं—पन भी है उसी अहंकृति ने दिया।
फिर वह अहमिका की स्पर्धा होती न क्यों?
घनघोर स्वार्थ के बीज यहाँ बोती न क्यों? १

अहमिति का फैला जाल, बढ़ा, बढ़ता गया,
विज्ञान-विभा का जाल स्वयं चढ़ता गया।
मन के संकल्प - विकल्प विस चुनता रहा,
जंजाल - जाल के जाल सघन बुनता रहा। २

मिल अन्तः बाह्य परस्पर गुम्फन में जुटे,
जागे, सोये, सुषुप्ति की विस्मृति में घुटे।
यह चक्र न जाने ऐसा कब से चल रहा,
चिति हुई महाचिति से वियुक्त चिन्तित महा। ३

× × ×

इसने अपने को एक पाश के साथ किया,
शिर पर मल का आवरण, पाप का भार लिया।
कितने शरीर, कितनी विचित्र योनियाँ मिलीं,
अध ऊर्ध्व दोल में संघटना—सूतियाँ हिलीं। ४

\+ \+ \+

इस कुछ प्रसन्न, अधिकाश अशुभ अनुभूति मे ,
यह कैसे रमती रही प्रपच - प्रसूति मे ।
इस महा मलीमस, घोर, जुगुप्सित जूति मे ,
इस मद-मृत्तिका-मृति मे पकिल-पूति मे । ५

बस एक निरन्तर जागृत, जप करता हुआ ,
नैराश्य - निशा मे आश्वासन भरता हुआ ।
सीता के दुख को त्रिजटा सम हरता हुआ ,
चिन्ता - कणिकाओं को खग सम चरता हुआ । ६

आत्मा का, चिति का महामन्त्र, साथी, सखा ,
सोह सोह सकेत दे रहा शतमखा ।
यह प्राण प्राणधन का देता संदेश है ,
इसमे चेतनता का जीवित सश्लेश है । ७

यह कहता है, तन नही, वही हो तुम प्रिये ,
स्वर गूँज रहा है ओ३म् ओ३म् की ध्वनि लिये ।
गुंजार वही है व्याप्त आज तक व्योम मे ,
सुन लो, यदि तुम सुन सको, वही श्रुत सोम मे । ८

## विपदा

आजा विपदा संग — सहेली, तुझको कंठ लगा लूँ मैं,
तुझसे मिल कर जन्म—जन्म के दुर्गुण—दोष निकालूँ मैं। १

स्वागत है, आ, बैठ हृदय में, अंगीकृत हो नमन विनय में,
तू दयालु दुख-दर्द-निलय में, अनुकम्पा का कोष सदय में।
तेरे द्वारा हृदय—भार को, आ, कुछ तो हलका लूँ मैं। २

मेरी शुभाकांक्षिणी आ जा, अपना मंगल—रूप दिखा जा,
मुझे सहन की शक्ति सिखा जा, तेरे पथ में बिखरी लाजा।
पाप—पाश हों दूर, पुण्य की जिससे ज्योति जगा लूँ मैं। ३

मेरे हाथों में बन्धन है, कण्ठ—मध्य आकुल क्रन्दन है,
दष्टि—द्वार से रस—स्यन्दन है, जिह्वा से तेरा वंदन है।
अब चुपचाप ताप में तप कर, अपनी लाज बचालूँ मैं। ४

शाप—शप्त मैं दबी पड़ी हूँ, निगड़—बद्ध मैं रुकी खड़ी हूँ,
विवश तड़पती घड़ी-घड़ी हूँ, क्या अभाग्य-शृंखला-कड़ी हूँ!
तेरी ज्वाला में जल अपना कर्म—विपाक जला लूँ मैं। ५

तेरा तीक्ष्ण क्लेश—प्रद कर है, मेरा भी अघ—दण्ड प्रखर है,
तू दृढ़ तो यह भी दृढ़तर है, तू अयमय तो यह प्रस्तर है।
काट, कटेगा, पावन बन कर, स्वर्ण—भविष्य सम्हालूँ मैं। ६

तू प्रिय का वरदान अभौतिक, मृत्यु रूप में मंगल मौक्तिक,
रुद्र-रूप शिवतत्त्व अलौकिक, तू वियोगमयिता में यौगिक।
आ, सखि, तेरे हाथों, अपनी बिगड़ी बात बना लूँ मैं। ७

## ०ः भूमि ः०

यह उच्चावच कहीं, विषम-सम कहीं धरित्री,
यह गिरि-उन्नतशृंग-अगम-तल-सिंधु-सवित्री।
सस्य-श्यामला कहीं, वनस्पति-व्रतति-जनित्री,
ओषधि, रस, रत्नादि दान दे प्राण-पवित्री।
कहीं मरुस्थल है, कहीं कण्टकमय कान्तार है,
कान्त कल्पतरु हैं यहीं, यहीं झाड़-झखार हैं। १

कौले सी कालिमा, श्वेतिमा हिम-गिरिवर सी,
स्वर्ण सदृश पीतिमा, नीलिमा नभ-जलधर सी।
कहीं पाण्डु है, कहीं रक्त, लोहित-खर-शर सी,
दलदल सी है द्रवित, कहीं कंकड़-पत्थर सी।
विविध वर्ण वाली रसा मिली मुझे आवास-हित,
सुखद-दुखद, नीरस-सरस, बहुरंगी-रजनरहित। २

उत्तर-दक्षिण-धुरी, शीत - मंडित, हिम-जर्जर,
कहीं न तरु-तृण-हरित,शून्य, निर्जन, थल-अम्बर।
आज नहीं आवास्य, कभी शोभित थे गृह, नर,
प्रकृति खेलती खेल यहाँ परिवर्तित - वपु - घर।
षट मासों के रात्रि-दिन,आंख मिचौनी में निरत,
कुम्भकर्ण के पलक-युग,स्वाप-जागरण-रत-विरत। ३

कहीं शैत्य-आधिक्य, कहीं पर उष्म-चरमता,
शीत-उष्ण-कटिबन्ध-मध्य दोनों की समता।
तदनुरूप तनु - बीच दिव्यता या दानवता,
वामनता, दीर्घता, श्यामता, सिता, अरुणता।
देश-काल अनुकूल ही खाद्य - पेय सबके बने,
निज-निज मति-कृति से सभी,निज-निज सुख-दुख में सने। ४

सिंधु-हिमालय-मध्य सुधा—सा वसुधा—तल पर,
आर्यावर्त अनूप भूमि का हृदय, यशोधर।
षड् ऋतुओं की छटा छिटकती यहाँ मनोहर,
बारी — बारी आते — जाते चंद्र—प्रभाकर।
यहाँ साध्य,ऋषि,मुनि रहे,पितर,देव,मनु की प्रजा,
यह संस्कृति का केन्द्र है,मानवता की ध्वज ध्वजा। ५

मैंने रह कर यहां ज्ञान के सत्र चलाये,
श्रद्धा-दीक्षा-सहित व्रती बन पुण्य कमाये।
मिली ज्योति, पर तभी, अहं ने पाठ पढ़ाये,
पुण्य पाप बन गये, मार्ग में संकट आये।
उठना,गिरना ही रहा,कभी न अक्षय सुख मिला,
आह - दाह - सप्राह से, मेरा जीवन-गढ़ हिला। ६

भारत से चल कभी यवन - लातिन देशों में,
काश्यप, शर्मन, आंग्ल, रसा के वर वेशों में।
मोक्षकामना काम्य छिपी दोषी द्वेषों में,
ईर्ष्या बढ़ कर फलित हुई तापी स्वेषों में।
मैं-पन ने मेरा यहाँ पतन किया सर्वत्र है,
देखे देश-विदेश हैं, मिला न यश यजत्र है। ७

कभी पहुँच ईरान, अहुरमज्दा गुण गाये,
कभी अर्ब में विनय - शौर्य के खेल दिखाये।
कभी अरल, उजबक, तुषार, मग, पथ में आये,
कभी त्रिविष्टप-मध्य आन्तरिक साधन पाये।
देखा अपना ही सदन कभी चीन-जापान में,
देख-देख मोहित हुई, मैं अपने ही ध्यान में। ८

ब्रह्म, श्याम, कम्बोज, वरुण, बलि इसी धरा पर ,
शोभित हैं यव, इन्दु, सुमात्रा द्वीप विभाकर ।
ऋषि अगस्त्य के पड़े यहाँ पद-चिह्न विमलतर ,
आर्य कीर्ति से ध्वनित यहाँ के मंदिर-मन्दर ।
अजयमेरु में भी रही, देखी मय-निर्मित कला ,
मिला न मेरा प्रिय कहीं, रही अचल मैं चंचला । ९

## चन्द्रलोक

देखा है मैंने चन्द्र लोक ,
वह पितरयान के पथिकों का उल्लास - भरा वायवी ओक ।

ले प्राण - शरीर व्यतीत किये इसमें भी मैंने अयुत अब्द ,
पर देखा वहाँ निकट से जब, हैं राग-द्वेष के भरे शब्द ।

देखे मैंने बलि से दानी, वे नमुचि-सदृश पर-उपकारी ,
वे इष्टापूर्त - मग्न प्राणी, पर - हित में निरत, स्वत्वहारी ।

मैं भोग यज्ञ के सुफल विपुल, पृथिवी पर पुनः उतर आई ,
प्रिय कहाँ, अरे प्रिय कहाँ ? यहाँ कण-कण में अप्रियता छाई ।

## देवयान

देखे हैं मैंने देवयान,
जा रहे शुक-ध्रुव लोकों में एकान्त शान्त ऋषि मोदमान।

ये ज्योतिवपुष, ये शुभ्रायुष, ये देव-पुरोहित जीव व्रती,
ये मेधावी, ये प्रज्ञ-विज्ञ, यम-नियम-परायण, योग-यती।

उपशम, ज्ञान-विश्राम-धाम, ये उन्नत-शिर ये, दीप्त-भाल,
अपने में खोये-धोये से, विज्ञान-विभा-विद्युत विशाल।

जड भरत, ऋषभ, शुक, कपिल ज्योति के लोकों में विचरण करते,
वे तप पूत जिन महावीर, अगिरा प्रभा नभ मे भरते।

स्व से आगे के मार्ग विषम, जिनमे मह, जन, तप, सत्य लोक,
मैं निज प्रिय को खोजती फिरी, हैं कहाँ, कहे कोई, विशोक।

## सभी यहाँ झूठा है

देखा मैंने हिमगिरि हिमहास दिखाता,
फिर सरिताओं के मिस रोता बिलखाता।
देखा वह विसुवियस भी आग उगलता,
निज निहित दाह से जिसका हृदय पिघलता।

देखा टर्सू गिरि आन्ध्र द्वीप का न्यारा,
जल–अनल युगल से शून्य तटस्थ विचारा।
ये दया–कोप-निर्वेद-प्रतीक खड़े हैं,
अपनी महिमा में अपने आप बड़े हैं।

इनका यश मेरे काम नहीं आ पाता,
कुछ छोड़ फुहारे ऊपर को उड़ जाता।
ये अतल सिंधु जो नीर–भरे दिखलाते,
आलोडित होकर कभी – कभी अकुलाते।

है अग्नि कहीं इनके भी अन्तस्तल में,
होते हैं क्षुब्ध, प्रशान्त रूप के छल में।
जलयान उलट जाते खा लहर – थपेड़े,
चलते हैं यद्यपि बना बना कर बेड़े।

मेरा बेड़ा डूबा शतवार भँवर में,
शतवार पराजय मिली मुझे संगर में।
ये उच्च–अतल गिरि–सिंधु बड़े निज घर के,
देखा है इनका दम्भ–दाह मर–मर के।

चुप रहूँ किसी से कथा कहूँ क्यों मन की?
सुनता है कोई कहीं व्यथा पर–तन की?
जब अपना प्रिय ही अपने से रूठा है,
तब कहना – सुनना सभी यहाँ झूठा है।

## नश्वरता

जन्म लिया, फिर बढते,
स्थिर होते ही विपरिणाम पाते हैं।
क्षय की ओर खिसकते,
काल – गाल मे पुन समा जाते हैं।

शिशु किशोर बनता है,
होकर कर्मठ युवा कीर्ति पाता है।
प्रौढ समजम लाता,
होकर वृद्ध, शरीर छोड जाता है।

कितनी वार विलोका,
लोक – लोक आलोक – हीन ही पाये।
जो ज्योतिमय भी थे,
जरा – जरण से ग्रसित दृष्टि मे आये।

फिर भी परिग्रह बांधा,
सोचा पल भर भी न सभी नश्वर है।
केवल एक अमर है,
जो प्रपच से पृथक् अजर अक्षर है।

वह सब को देता है,
कभी किसी से नहीं कामना करता।
मेरा प्राण वही, है,
वही अभावो को प्रतिपल है भरता।

क्यों न प्रकट हो जाता,
जन्म — जन्म की साध पूर्ण हो जाती।
मेरा भाग्य बदलता,
नश्वरता में नित्य अमरता आती।

\+ + +

उस जेता के मिलते ही,
जय और पराजय के बन्धन खुल जाते।
वे द्वन्द्व दलित सब होते,
जो निर्भय को भी हैं भयभीत बनाते।

निर्द्वन्द्व उसी का सहचर,
आनन्द उसी का संयोगी साथी है।
उसके वियोग ने मेरी,
उन्नयन—संगमन—क्रिया सभी नाथी है।

दे व्याधि—आधि तन — मन में,
क्यों हास तथा परिहास काटने लगते?
मिल जाता मुझको मेरा,
ग्रंथियाँ छूटतीं, भाग्य भाल के जगते।

## ०  आओ  ०

देव तुम्हारे पद अर्चन—हित,
कब से बाट निहार रही।
रोम—रोम से, प्राण—प्राण से,
केवल तुम्हें पुकार रही।

हृतन्त्री के तार—तार से,
निकल रही है तान यही।
मेरी शून्य कुटी में होगी,
कब तव मूर्ति विराज रही।

आज आरती—थाल सजाये,
बैठी हूँ, प्रभु, आ जाओ।
मेरे भग्न हृदय—मंदिर में,
शुभ्र छटा निज छिटकाओ।

बिना तुम्हारे यह दुख—दुर्गति,
दूर नहीं होगी प्यारे।
आओ, आओ, मुझ व्यथिता की,
अधी आँखों के तारे।

इस अधीर उर के आश्वासन,
आओ मेरे अवलम्बन।
ताप—तप्त इस अन्तर्मन के,
आ जाओ शीतल चन्दन।

सप्तम सर्ग

# आश्वासन

## (१) यह देख प्राणधन की नगरी नियराई

जीवन भर जैसी रही भावना जिसकी,
चित्रित हो उठती वही मृत्यु में उसकी।
ठग, चोर, हिंस्र की वृत्ति तदनुरूपा हो,
रचती है भावी योनि युक्त—यूपा हो। १

पशु—रमण जगाता अधम पशुत्व—पिपासा,
विद्याव्रत से उत्पन्न ज्ञान—जिज्ञासा।
हवियाँ मिलती हैं पुरोडाश से प्यारी,
छन्दों से होती प्राप्त गीति—लय न्यारी। २

समिधा से समिधा, याज्य याज्य से आते,
स्वाहा से स्वाहा वषट्कार स्वर पाते।
जो राक्षस, असुर, पिशाच दिखाई देते,
गत और अनागत की परछाईं देते। ३

मानव में ही वृक कभी बोल उठता है,
अथवा देवत्व — समाज कभी जुटता है।
यह सब कृतियों का खेल, भाव की लीला,
अपनी ही परिणति यहाँ शुभाशुभ — शीला। ४

जीवन भर तूने जो प्रिय के गुण गाये,
प्राक्तन जन्मों में जो – जो चित्र बनाये।
वे सभी आज साकार, रूप में तेरे,
कब - कब के, कहाँ - कहाँ के डाले डेरे। ५

तेरी पीडा कह रही, प्राण – घन आगे,
दुर्दिन सब हुये समाप्त, सुदिन हैं जागे।
बह गये दोष–मल सकल अश्रुधारा मे,
तू बैठी विमल – विभूति – विश्वधारा मे। ६

यह निर्मिति नवला तुझे पास ले आई,
यह देख प्राणधन की नगरी नियराई।
यह श्रान्ति शान्ति में अब परिणत होती है,
तू व्यर्थ वेदना – भार विकल ढोती है। ७

## (२) आ गया पदतल मे गन्तव्य

जन्म है जिसका उसकी मृत्यु,
आदि मे छिपा हुआ है अन्त।
वियुक्ता होती है सयुक्त,
उसे मिलता है अपना कन्त। १

ग्रीष्म में निश्चित आती वृष्टि,
शिशिर के पतझड़–मध्य वसन्त।
नियत है दुख में सुख का वास,
निहित है जल में अनल ज्वलन्त। २

उदय में अस्त, अस्त में उदय,
रात्रि में दिन, दिन–मध्य निशीथ।
दैन्य में विभव, विभव में दैन्य,
शून्यता में मंगल उद्‌गीय। ३

नृपति में रंक, रंक में नृपति,
श्वेत में श्याम, श्याम में श्वेत।
खेत बन जाते रम्य निकेत,
निकेतों के बन जाते खेत। ४

चल रहा ऐसा जीवन – चक्र,
न रहता सब का समय समान।
हास में रुदन, रुदन में हास,
गान में व्यथा, व्यथा में गान। ५

ध्यान में बसती है व्यग्रता,
व्यग्रता में रहता है ध्यान।
ज्योति में तम, तम में नव ज्योति,
अयति में यति, यति में द्रुति-यान। ६

अग्नि में धूम्र, धूम्र में अग्नि,
फूल में धूल, धूल में फूल।
हरित में मरु, मरु में हरिताभ,
कूल में सरित, सरित में कूल। ७

नियम जब जगतीतल में यही,
प्रकृति क्या प्राणी, सब में व्याप्त।
विरहिणी तब तू निश्चित समझ,
विरह भी होगा शीघ्र समाप्त। ८

भक्ति – भरिता प्रियवदे, देवि,
काम — प्रद कल्पलता तू आज।
प्रेममयि, अधकार अब कहाँ?
दूर हो रहा विपत्ति—समाज। ९

अचल अनुरागपूर्ण, वर विमल,
बन रहा तेरा मानस — हस।
ललित, हर्षित, मुक्ताफल मजु,
चुगेगा यह आत्मिक अवतस। १०

अश्रुओं से प्राणों के साथ,
मनोमय विद्युत हुई प्रसूत।
उमगित अन्त आभावान,
चित्त में शुचि सस्कार प्रभूत। ११

तिरोहित तम, हो रहा विहान,
अंशुमाली का उदय समीप
युगों के त्रास पलायन – लीन,
चमकता आता गगन — प्रदीप। १२

विसर्जन में सर्जन भर रहा,
आज तेरे जीवन का पर्व।
तपोमयि, तू निर्मल बन गई।
साधना तुझ पर करती गर्व। १३

प्रणय—पथ तुझसे हुआ पवित्र,
धुल गये राग — दाग अपरूप।
हृदय—नभ की धूमिलता छटी,
धवलता छाई अमल अनूप। १४

इधर से उधर विवेक—विहंग,
कर रहे हैं उन्मुक्त विहार।
प्रमुदिता प्रज्ञा परमोज्ज्वला,
स्वतः जा रही अपर के पार। १५

दिशाओं में सौरभ भर रहा,
हो रहे पुलकित प्रिय के प्राण।
आ रहे हैं, हाँ, वे आ रहे,
करेंगे कल्याणी, तव त्राण। १६

आज नूतन हैं तेरे अग,
आज नूतन छवि, नूतन राग।
श्रवण, दर्शन, नूतन है रसन,
आज नूतन है अचल सुहाग। १७

आज करुणा की कादम्बिनी,
सुरस रस बरसाती सब ओर।
ताप से तप्त, हरे हो रहे,
निकलते आते किसलय कोर। १८

आज उत्सुकता — कल्लोलिनी,
उमडती मर्यादा को तोड।
राग मे डूबे नियम-विधान,
चली वह मनन—कलन को छोड। १९

मध्यधारा माध्यम बन गई,
मिल गये आज कूल से कूल।
भांवरी भरते पल—पल भँवर,
फूल मे हृदय रहा है झूल। २०

आज फूंके दाखों मे गीत,
कर रहे प्राण नृत्य उन्मत्त।
आ गया पदतल मे गन्तव्य,
मिलन का महल हुआ स्वायत्त। २१

गैरिमण ऊष्मा से संवलित,
जगे हैं मन के सोये भाव।
शेष—शय्या के स्वर हैं मुखर,
बुलाते हैं तुझको दे चाव। २२

किन्तु सखि, रहना सजग, सतर्क,
यही है स्खलन—उन्नयन—भूमि।
दिखाई देती प्रिय की झलक,
निगलने को भी प्रस्तुत ऊर्मि। २३

लगा कर लतिकाओं में आग,
भाग जाता है मधु गति—क्रूर।
कुमुदिनी में कमोद को जगा,
शर्वरी में शशि होता दूर। २४

अमा में आती है पूर्णिमा,
लोक में भर जाता आलोक।
सघन घन या ग्रसिष्णु से ग्रहण,
पुनः भर देते उर में शोक। २५

मिलन है निश्चित, पर देखना,
आ पड़े कहीं न पाप—प्रमाद।
अहंकृति की न ग्रन्थि फिर भरे,
मधुरिमा में कटुता का स्वाद। २६

जलावे कहीं न फिर अनुताप,
भाग जावे करतल-गत स्वर्ग।
जागरण निन्द्रा — मुद्रा देख,
छिपा दे कहीं न तेरा भर्ग। २७

उषा ने यदि मोती चुन लिये,
जलावेगी दिन भर की आह।
चित्त में चिन्ता आकर व्यर्थ,
भरेगी निष्ठुर, दारुण दाह। २८

इसी मे कहती हूँ, सखि देख,
कहीं से हो न रग मे भग।
मिलन—कल्पना स्वप्न सी अनृत,
छुडा दे कहीं न प्रिय का सग। २९

प्रेम छू ले निज अन्तिम बिन्दु,
यजन की पूर्णाहुति हो पूर्ण।
भक्ति का मूल समर्पण मत्र,
करेगा विघ्न—व्यूह को चूर्ण। ३०

समर्पण की वेला मे कहीं,
प्रवेश न करे अह की गन्ध।
इसी से होगा प्रिय—सयोग,
कटेंगे उत्तम — मध्यम बन्ध। ३१

समर्पण, पूर्ण समर्पण साथ,
एक हो जाना प्रियतम — पास।
विरह की घटा, विकलता–लता,
न देगी फिर तुझको भय–त्रास। ३२

## समर्पण (३)

नाव में रख कर जैसे पैर,
पथिक हो जाता है निश्चिन्त।
नाव के खेने का सब भार,
एक केवट पर तट — पर्यन्त। १

पथिक रथ पर होता आसीन,
भाग्य रहता सारथी — अधीन।
अश्व की रासें थामे हुये,
वही ले जाता लक्ष्य–प्रवीण। २

डुबोना या कर देना पार,
कराता प्राप्त नियत गन्तव्य।
कहीं से कहीं भटकता फिरे,
पथिक का विनिहत हो मन्तव्य। ३

सभी का गुरु उत्तरदायित्व,
सारथी — केवट पर भरपूर।
कामनायें प्रभु को सब सौंप,
क्यों न करती निज चिन्ता दूर। ४

न तेरा तुझमे कुछ भी रहे,
सभी बन जावे प्रिय का अग।
शून्य सी बनी हुई निर्द्वन्द्व,
खेल तू अपने प्रिय के सग। ५

समर्पण में सब कुछ है व्याप्त,
कर लिया यदि प्रिय प्रभु को प्राप्त।
एक मे भरे अनेको रत्न,
केन्द्र मे रेखा — बिन्दु समाप्त। ६

परिधि क्यो? पकड केन्द्र को सखी,
समर्पण से बन जा केन्द्रस्थ
भटकती अब तक फिरती रही,
आज तो हो समाहिता स्वस्थ। ७

समर्पण से छूट कर निज भार,
कन्त के कन्धो पर अतिक्रान्त।
बनावे और, बिगाडे वही,
वही तो मूर्ति भूति का नाथ नितान्त। ८

उसी का अंचल ले सखि ! पकड़,
उसी का आश्रय ललित ललाम।
भक्ति में भर, गा उसके गीत,
उसी का ले जिह्वा से नाम। ९

उसी के पद—पद्मों में हुआ,
समर्पण यदि तेरा स्वीकार।
समझ ले, जन्म—जन्म के ताप,
पाप क्षण—भर में होंगे क्षार। १०

अरी चल, हो प्रपत्ति में मग्न,
भग्न हों हृदय—ग्रन्थि के तार।
छिन्न हों संशय—जाल अरी...
क्षीण हों कर्म-विपाक-विकार। ११

काल की कटु करालता क्रूर,
नाथ के हाथों होगी दूर।
उसी के कर में सब की नाथ.
नचाता घन बन हृदय—मयूर। १२

वही है सेव्य, वही आरा...,
वही है तेरा पावन प्राप्य।
उसी के लिये बिलखती ...म,
न करती अप... वाच्य समाप्य। १३

## खड़े हुए सम्मुख भगवान (४)

मेरी उमा, भवानी, दुर्गे,
तेरा ही सकल्प सही।
तू अनृतों मे एकमात्र ऋत,
तू असत्य मे सत्य रही। १

फूल रही तेरी जगती में,
दाची, दिव्य सम्पदा घनी।
अब न रही आ[illegible]
तू विजयी, तू यशोधनी। २

प्रतिद्वन्द्वी-दल नष्ट हो चुका,
काम, क्रोध, मद सब निर्मूल।
सत्य, प्रेम, सयम, नियमादिक,
अब सभी तेरे अनुकूल। ३

हटी अविद्या, प्रकटी विद्या,
देख, आ गई, तेरे पास।
इस अध्यक्षा वाग्वती का,
तेरे, शिर मे, हुआ निवास। ४

आज सभी उद्बुद्ध देवता,
फैला कैसा पुण्य प्रकाश।
इस असपत्न, अदम्य शक्ति से,
हुआ विपक्षी — वृत्र — विनाश। ५

आज कहाँ वारक, अवरोधक?
सब दुर्भाव, विघ्न निष्प्राण।
अब निर्बाध, मुक्त, विस्तृत है,
लोक — लोक — व्यापी कल्याण। ६

अब क्यों दुःखाक्रान्त हो रही,
कैसा घात और व्याघात?
तेरा दिव्य प्रभाव चतुर्दिक,
फैला तेरा यश अवदात। ७

तेरे तप ने, तेरे व्रत ने,
तेरी श्रद्धा — निष्ठा ने।
खोल दिया प्रिय का अपिहित मुख,
दिव्य विभूति वरिष्ठा ने। ८

देख रमा के राम खड़े हैं,
राधा के माधव आराध्य।
आज सती के शिव आये हैं,
हैं संयुक्त सिद्धि से साध्य। ९

कैसा यह पावन प्रभात है,
करो आज मिल मगल गान।
थाल सजा आरती उतारो,
खड़े हुये सम्मुख भगवान। १०

## तू मत भीज (५)

तू मज भीज, तू मत खीझ,
तू अनुताप मे मत सीझ।

तेरी वेदना हो विकल, विद्युत सी तडपती दीन,
घन के लौह पाश अबाध, बाँधे हैं जिसे कर क्षीण।
कपिला सुरभि छोड, नदन व्याकुल हो वधिक-आधीन,
बेबस छटपटाती छलित, काँटे मे फँसी ज्यों मीन।

जीवन – सगिनी – सी जान,
विपदा पर न इतना रीझ।

निशि नैराश्य की जब निविड़, आँखों को बनाती अध,
सूझे जब न हाथो – हाथ, कैसी मुक्ति कैसा बध?
तब तू लौट पीछे देख, समरसता सुधा का स्कध,
देगा दीप्त दिव्यालोक, फैलेगी मधुर सद्गध।

होंगे कष्ट – क्लेश विनष्ट,
माया, कपट, छल की छीज।

## तू मत उमड़ (६)

तू मत उमड़, तू मत उछल,
मेरे हृदय कोमल सरल।

मंजुल भाव का आघात, कर देता तुझे बेचैन,
पाकर ग्रीष्म का ज्यों वात, धधके ज्वलित पावक-सैन।
वासन्ती सुरभि है इधर, कोकिल का उधर कल गान,
युग-सम्बन्ध कैसा किधर, हो पाता किसे कब ज्ञान?
रवि का देखते ही उदय, खिल उठते सरों में कमल,

मेरे हृदय कोमल सरल।

तू म्रियमाण, तू निष्प्राण, तू निस्पंद, तू गति-हीन,
तू ध्रुव किन्तु लोष्ट समान, तू अस्तित्व, सत्तालीन।
दे टक्कर मधुर आवेग, कर देते तुझे जीवन्त,
चल पड़ता प्रवाह सवेग, बन जाता असीम अनन्त।
तू असहाय, तू निरुपाय, तेरा बल वही बल अमल,

मेरे हृदय कोमल सरल।

षष्टम सर्ग

# साधना

क्यों बिलखती, देख, पन्थ प्रशस्त है,
यज्ञ की नौका खड़ी, क्यों त्रस्त है?
इस भवार्णव में भयानकता भरी,
पर प्रसादमयी यहीं पर है तरी,
जो चढ़ा इस पर हुआ आश्वस्त है। १

दूर कर ऋण—भार जो शिर पर लदा,
हो उऋण, क्यों झेलती ऋण—आपदा?
दुख इसी का क्योंकि तू ऋणग्रस्त है। २

देवहूति बने अनेकों तर गये,
मार्ग उज्ज्वल साधना का कर गये,
पाप की प्रथिमा इन्हीं से ध्वस्त है। ३

दिव्यता का कर वरण तू आज ही,
प्राणधन की प्राप्ति का पथ है यही,
यदि चली तो सिद्ध स्वार्थ समस्त है। ४

ऊर्ध्व लोकों में विराम—ललामता,
पूत सन्निधि, विधि विमल, अभिरामता,
उन्नयन यह उत्क्रमण विश्वस्त है। ५

यज्ञमयता के निकट प्रिय—लोक है,
भूमिका है मधुमती, गत शोक है,
आवरण अघ का का जहाँ विलस्त है। ६

लोक सीमा पर अलोकी — वास है,
रूप जहाँ अरूप, सब कुछ पास है,
हस्तगत आशा, तृषा पर्यस्त है। ७

चल शरण ले त्याग, याग, विराग की,
तू जगा सद्वृत्ति संग्रह — भाग की,
बिन्दु अन्तिम यशमद से मस्त है। ८

## नीहार

यह नीहार, यह नीहार
अरी घिरी तू इस चादर से क्यों न हटा कर होती पार?

कितना अन्तर इसने डाला, इसका रूप विरूप निराला,
क्या यह भी रचना उस प्रभु की या अज्ञान-तिमिर तनु-काला?
छाया चारों ओर मोह सा कैसा इसका सघन प्रसार। १

सब अदृश्य, यह एक सामने, निगडित कर दी दृष्टि दाम ने,
अपने पन को छोड़ अरी जड़, लगी स्वयं तू इसे थामने,
तेरी गति — चेतना कहां है, कहाँ विवेक — शील व्यापार? २

जब से छाया तब से अब तक, विस्मृति की विस्तृति मर्मान्तक,
भूल गई अपने स्वरूप को, कहाँ गया वह रूप झकाझक,
अब चकबक हो झकझक करती, कहा चकाचक प्रिय का प्यार? ३

तमोमयी यह धुंध छा रही, रजोमयी जल्पना आ रही,
विद्या की विडम्बना कैसी, मान मढ़ी मूर्खता पा रही,
धर्म – वस्त्र – शब्दाडम्बर से आच्छादित है जीवन सार। ४

अन्न—अन्न की ध्वनि फैली है, रजत–स्वर्ण–भरिता थैली है,
खान–पान की, करण–भरण की, मैली, अरमणीय शैली है,
तनु—तर्पण में यह आत्मार्पण, क्यों न मरण के हों आसार ? ५

इधर कामनाओं का पोषण, उधर चतुरता का संतोषण,
दोनों मिल कर करते रहते तेरी आत्मशक्ति का शोषण,
तू न देख पाती अपने को, अपना ही परदा दुर्वार। ६

दूर — दूर अपने से होती, अपने ही प्रियतम को खोती,
उक्ति--उक्ति में, तृप्ति--तृप्ति में, तू उलझी, दुख पाती, रोती,
दृष्टि--बंध है, अरी सम्हलजा, देख अभी खुलता है द्वार। ७

## स्वरूप

तू देख स्वकीय स्वरूप
मिलेंगे प्रिय प्यारे,
तू अमर, मृत्यु के हाथ
गये तन — मन मारे। १

ये लोक मोहनी मूर्ति लिये,
सम्मुख आये,
मायावी माया साथ,
अमित वैभव लाये। २

पर क्षणिक, अरे सब क्षणिक,
न ये तेरे साथी,
इनमे न सत्व की शक्ति,
देखने के हाथी। ३

तू अपराजित, ये विजित,
व्यर्थ इनमे अटकी,
इनकी हिरण्यमय पण्य—
वीथियो मे भटकी। ४

तेरा ऐश्वर्य अमोघ,
कहा इनमें वैसा ?
तेरा रस जीवन—हेतु,
प्रकृति मे रस कैसा ? ५

तू रत्न, ठीकरी तुल्य
सभी पृथिवी—पुतले,
तू परले पथ की पथिक,
यहा के पथ निचले। ६

तू परम विशुद्ध पवित्र,
यहाँ मल मलिन भरा,
तू शक्ति, ज्योति है परा,
जगत की गति अपरा। ७

तू अपनेपन को भूल,
कहाँ जा रही चली,
तेरी निधि अन्तः निहित,
खोजती कौन गली? ८

चल लौट समाहित हो,
अपने में आज सखी,
माया की माया,
भली भाँति देखी परखी। ९

इस वितत तन्तु को चीर,
देख निज रूप भला,
तू अचला, अमला कला,
सिद्धि शाश्वत सफला। १०

ऋत सत में जिसकी ज्योति,
वही तुझमें तेरा,
तू कलप कलप कर,
व्यर्थ यहाँ करती फेरा। ११

## कान्त तरी

बलवती सती तू वेगवती धृतिमत कृती,
तेरे हैं वाज—प्रवाज पेय, तू वाजवती। १

यह निखिल विश्व तव भोग्य, बनी तू भोगवती,
यम, सयम साधन साथ बनी तू योगवती। २

जो कर्ता सो भोक्ता की विधि चल रही यहाँ,
तू निज कर्तृत्व सम्हाल, मोद की मही यहाँ। ३

इन तनुओ मे विस्तार पा रही निज कृति से,
शिरमौर बनी सम्मान पा रही ससृति से। ४

ये स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर तेरे साधन,
इनसे कर तू अपने स्वरूप का आराधन। ५

कर इनकी तू कल्पना, रम्य रचना ऐसी,
तेरी रुचि इनमे जगे—मृदे कच्छप जैसी। ६

तू वशी, स्ववश मे रख तनुओ का तार सदा,
कर इनसे सेवन—यजन—भजन—विधि मोक्ष—प्रदा। ७

यह सखी सृष्टि है निरत इसी विधि में क्षण–क्षण,
कर रहा यजन, पूजन, सेवन इसका कण – कण । ८

सब परम प्राण – पति के आज्ञा — पालन में रत,
जो परम पुरुष का प्रशिष वही इन सबका व्रत । ९

वसु, रुद्र तथा आदित्य यजन — व्रत–व्रती यहाँ,
मनहरण–क्रमण में रमण, रहित — व्रत कौन, कहाँ ? १०

आकर्षण – अपकर्षण में व्रत — विधि सधी चले,
वर्षण — घक्षण – स्तम्भन — कंपन में बँधी चले । ११

बन व्रतपा तू भी यजनशील जीवन कर ले,
तनु तपा योग में, प्रिय – संयुत – क्षम द्युति भर ले । १२

अपने पैरों चलना है तुझको इस मग में,
कोई न किसी का साथ दे सका इस जग में । १३

तेरी महिमा तेरे बल से विकसित होगी,
वेदना — व्यथा तेरे बल से विगलित होगी । १४

तू शक्ति – पुंज क्यों लुंज बनी रो रही अरी ?
उठ कान्त – कृष्ण – सहचरी ! पकड़ ले कान्त तरी । १५

## अपने को पहिचान

तू गुर्वी आत्मा, ज्ञानकर्म – पक्षों – वाली ,
कहते हैं तुझे सुपर्ण शुभ्र शोभाशाली । १

तू क्यों पिंजर में बद्ध ? उड़ानें भर न्यारी ,
उन्मुक्त व्योम में कर विहार मंगलकारी । २

पृथिवी का पावन पृष्ठ बने तेरा आसन ,
तू चला इसे, संचालित ज्यों होता वाहन । ३

तू वसुओं की स्वामिनी, बने वसु क्यों स्वामी ,
वसुधा के भोग-विलास – विभव तव अनुगामी । ४

इस अन्तरिक्ष में भर दे अपनी प्रभा – विभा,
उद्भासित मन हो उठे, खिले तेरी प्रतिभा। ५

कर ऐसी ज्योति विकीर्ण स्वर्ग दमदमा उठे,
बौद्धिक वैभव करता प्रकाश चमचमा उठे। ६

दायें, बायें, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे,
निज धाराओं से तेज दिशा – विदिशा सींचे। ७

तू उज्ज्वल ज्योतिर्मयी चेतना उन्मुक्ता,
क्यों समक्ष रही, बन्धन – विधान से संयुक्ता। ८

तू अव्याहत गति-शील, कौन है अवरोधक?
तू अग्नि – तुल्य हवि-रूप-भोग की संशोधक। ९

तेरे विहार के लिए त्रिलोकी का प्रांगण—
वाटिका बना, कर रहा विमल-सौरभ-वर्षण। १०

तेरे गुण, तेरी शक्ति समाराधित सब से,
तू अपने को पहिचान शची – शुचिता अब से। ११

## प्रश्नोत्तर

प्रश्न– मा, जैसा प्रकाश बाहर है, वैसा ही भीतर है।
पर न वहा पर क्यो ऐसा ही मुझे दृष्टिगोचर है?

उत्तर– बाहर का प्रकाश क्या सब को सुते! दिखाई देता?
जिनके नेत्रों पर जाला हो, वह न प्रकाश – प्रचेता,
पर ऐसे हैं स्वल्प, अधिकतर हैं प्रकाश के द्रष्टा,
भीतर सुते। विपर्यय इसका, वहाँ स्वल्प सद्द्रष्टा।

प्रश्न– क्यो बाहर की ओर सभी का अद्भुत आकर्षण है?

उत्तर– वहिर्मुखी हैं सुते, इन्द्रिया, वही विषय – तर्पण है।

प्रश्न– विषय सकल सुख–दुख मिश्रित हैं, मैं दुख–मुक्ति–प्रयासी,
क्या न कही एकाकी सुख है? सब का सुख दुख-ग्रासी?

उत्तर– सुते, सभी की इधर लालसा, पर दुर्लभ सयोग यहाँ।
भीतर भी यह भरा पडा है, राग–द्वेष से मुक्ति कहाँ?
राग सुखद तो द्वेष दुखद बन बाहर–भीतर छाये हैं।
आंख बन्द कर लो, पर मन मे अपना जाल बिछाये हैं

प्रश्न– तब क्या, कहीं न सुख ऐकान्तिक ?
उत्तर– समाविष्ट वह अपने में,
प्रकृति परायणता से हट कर आत्मा मंत्र के जपने में।
अन्तर्मुखी वृत्ति में जब मन शिव–संकल्प–व्रती बनता,
तब बाहर–जैसा ही भीतर उर - नभ में प्रकाश छनता।
इस अंतः प्रकाश के पथ से आत्मा–ज्योति–दर्शन होता,
बन जाता है आत्म देव ही आत्म यजन का तब होता।
इसी यजन में स्वदर्शन, है क्लेशजाल से मुक्ति यहीं,
द्वन्द्व - दमन - अवसान यहीं है, ऐकान्तिक सुखमुक्ति यहीं।
जब तक मन भागा फिरता है, समासीन हो स्वस्थ नहीं,
तब तक बाह्य प्रकाश–राशि भी होती है अंतस्थ नहीं।
चिपटे हैं विकल्प, छायी है अशिव अतृप्ति, प्रसक्ति यहीं,
शिव संकल्प बिना पाता है साधक आत्म प्रकाश कहीं ?
आत्म ज्योति एकान्त भूमि है, एकाकी सुख - वर्षण की,
अक्षित, अमृत, प्रशान्त, समुज्ज्वल, चिति, चैतन्याकर्षण की।

## —:परमसत्ता:—

यहाँ चतुर्विध सत्ता, सत्ता, प्राणमयी है, मनोमयी है,
ज्योतिर्मयी सभी के ऊपर सत्ता - गति - चिन्तना - जयी है।
किन्तु ज्योति के भी ऊपर है स्रोतस्विनी ज्योति की जननी,
निखिल स्वरूपों की, छवियों की जहां सुशोभित शुचि संगमनी।

यही परम सत्ता है, जिसमे अगति, चरम गति की मधु लीला,
यही क्रिया - अवसान, यही है परम अभावी भाव रसीला।

यहाँ ज्ञान की परिसमाप्ति है, उद्‌भव है, विस्तार यहीं है,
इसी बीज से अंकुर उगता, दल - शाखा - प्रस्तार यही है।

जात मात्र मे विद्यमान हो सब का ज्ञाता, सब का त्राता,
सब का पिता, सभी की माता, सबका सखा, सभी का भ्राता।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति का स्वामी, जहां ज्ञाननिधि वेदत्रयी है,
उसी विधाता के चरणो मे शान्ति - स्वस्ति आनन्दमयी है।

तेरा एकाधार वही है, विश्व प्राण का प्राण वही है,
प्राणिमात्र के कल्याणों का एकमात्र कल्याण वही है।

तेरी हृदय - पुकार व्योम में गूँज उसी तक पहुँच रही है,
वह पुकार सुन आ जाता है, उसका निश्चित विरुद यही है।

— त्रिक —

ज्ञान - क्रिया - इच्छा रूपी हैं जिसकी यहाँ तीन मातायें,
वह त्र्यम्बक है अन्दर, बाहर, आगे, पीछे, दायें, बायें।

अन्तरिक्ष से भू - द्यावा तक फैली हुई यज्ञ - समिधायें,
खाती रहती जिन्हें निरन्तर विद्युत—अग्नि—सूर्य — ज्वालायें।

सत, रज, तम से विकसित तन में यहा बुद्धि -मन- प्राण- क्रियायें,
गायत्री - त्रिष्टुप - जगती मे छंदित ऋक - यजु - साम - ऋचायें।

भूत - भविष्यत - वर्तमान में प्रोत सधस्थ - दिशा - विदिशायें,
इनकी ध्रुवा, मध्य, ऊर्ध्वा तक व्याप्त चतुर्दिक परिसीमायें।

कारण, सूक्ष्म, स्थूल से लिपटीं सब की त्रिविधा आकांक्षायें,
भव से भग लें, भजन हृदय से, मिलें वरेण्य भर्ग - आभायें।

तेजस्वी हों, वर्चस्वी हों, हरण - हरस्वी हो छा जायें,
पद, धड़, शिर इस व्यष्टि- विभा के भूमा- विभा- प्रभा पा जायें।

तीन देवियाँ, तीन शक्तियाँ, कृतियाँ तीन- तीन हैं सब की,
उत्तम, मध्यम, अधम त्रिकों में बटी हुई है जगती कब की।

अन्दर से बाहर तक फैली जाली इनकी छायातप की,
केन्द्रित है ओंकार प्रणव में बाह्य त्रिमात्रायें प्रभु - जप की।

प्राण, अपान, व्यान की सीमा ग्रहण, त्याग, सुख तक है जग की,
इसके बाद स्वाद वे लेते जिनकी मति- धृति मानस - खग की।

धी, मेधा, प्रज्ञा के ऊपर उत्तम गति होती चेतन की,
प्रभु के निकट, निकटतर जाकर छवि मिलती नेदिष्ठ सदन की।

—:यज्ञशाला:—

मत इसको समझ शरीर यजन की शाला है,
कवियों ने बंधन - मुक्ति - उपाय निकाला है। १

सप्तर्षि यज्ञ कर रहे बैठ इस वेदी पर,
वे भगवद्भजन - निमग्न सामसगीत - प्रवर।
परमार्थ - प्रेम मे इनका स्वार्थ निराला है। २

यह देख रही है आँख, सुन रहा शब्द कान।
नासिका सूँघती, त्वचा ले रही स्पर्श - ज्ञान,
जिह्वा का अनुपम स्वाद विविध रस वाला है। ३

मन कर सकल्प - विकल्प मनन मे लीन रहे,
प्राणिमेवधारण करती बुद्धि मार्ग निश्चिन्त गहे।
तेरी हि के कर मे फल - त्याग - समर्पण - माला है, ४
वह पुकार

सुरक्षित सप्त प्राण के परिकर से।
ो आहुतियाँ दीप्त, दीप्त वैदिक स्वर से,
त ने नव प्राण सभी मे डाला है।५

ा का यज्ञ स्वप्न मे भी चलता,
ज्ञान - क्रिया - ॅ सुषुप्ति का योग स्वय यति मे ढलता।
वह त्र्यम्बक है रक्षक खड़ा प्राण मतवाला है, ६

अन्तरिक्ष से भू - द
खाली रहतीं जिन्हें ) यज्ञ, न होता भग कभी।
सत, रज, तम से विकसित यह ज्ञान - कर्म का सग कभी,
गायत्री - त्रिष्टुप - जगती रे नव चैतन्य - उजाला है। ७

तू बनी यज्ञशाला - पावनता की प्रहरी,
तू देख, न हों ऋषि यज्ञभ्रष्ट, मति भ्रान्ति- भरी।
इस सोम - सुधा में कहें न कोः हाला है, ८

## —:जीवन--पट:—

बुन ले, जीवनपट को बुन ले,
इसमें कैसा रंग फबेगा, पहले से ही चुन ले।

बुनते तो आये हैं सब ही निज- निज मति अनुसार,
पर प्रवंचना देते आये इस प्रपंच के तार।

अब न प्रवंचित हो तू ऐसी लम्बी तानी तान,
जिसमें पृथिवी से द्यावा तक चमक उठे मुसकान।

पितरयान से भी बढ़, कर तू देवयान का ध्यान,
रक्षित रहे प्रकाश - प्रणाली, हो न लुप्त सद् ज्ञान।

भक्ति - भरित निष्काम कर्म का बाना इसमें डाल,
बुनती जा समतल करती तू, गाँठें विषम निकाल।

सावधान रहना पल - पल में, पड़े न कहीं प्रमाद,
दैवी जीवन की निर्मिति में आते नहीं विवाद।

सीधी राह, प्रगति भी सीधी, ऋजुतामय आचार,
ऋजुता की तत्परता देगी, ऋजु विचार - व्यवहार।

इस आर्जीक सानु मे सस्थित तेरा मूलाधार,
तेरी शक्ति वहीं से चढती कर भव – सागर पार।

खिलती, खुल – खुल खेल खेलती चक्र – चक्र के बीच,
हरियाली फैलाती जाती दिव्य सुरस रस सींच।

बुनती जाती पावनता – पट दिव्य दमक से पूर्ण,
इस दैवी जीवन मे होते तम – रज के गिरि चूर्ण।

जब चढती कैलास शिखर पर बनती पूर्ण प्रकाम,
आप्तकाम है जहाँ वृषभ-पति आशुतोष का धाम।

## –श्वेतिमा–

तेरी सरस्वती श्वेत, श्वेत वाहन मराल,
हैं वस्त्र कमल भी श्वेत, श्वेत - माला विशाल।

तेरे विधि भी सत्वस्थ, सत्व मे शिव – निवास,
सत ही सत चारों ओर, हो रहा सत– विकास।

सत का मण्डल है श्वेत, श्वेत शशि शिखर – दीप्त,
श्वेतिमा शुभ्र से शुभ्र ऊर्ध्व गति में प्रगीत।

सत का आरोहण कठिन, कठिन सत– आस्वादन,
पर जब सत की हो प्राप्ति, प्राप्ति मगल – साधन।

सत ही शिव, शिव ही सत, सत ही सौंदर्य –धनी,
यह प्रकृति मूल में सत, सत हारक– हीर कनी।

हीरा कहता, तप करो विमल बनते जाओ,
साधना—शीर्ष पर स्वयं श्वेत आभा पाओ।

कौला यदि काला काक, हंस हीरा सम है,
है जाति एक ही, तन में वर्ण-व्यतिक्रम है ॥

तन भी अन्तर की बाह्य व्यक्ति, ऋषि कहते है।
तप से तन—मन के दोष-दाग सब धुलते हैं ॥

कटता है काला मैल, कलुष—कर्दम छटता।
नभ में भर छाया घोर विषम बादल फटता ॥

निर्मल नभ में तारका सदृश मन के विचार।
मँज-मँज कर अन्तः-बाह्य प्रकट होते उदार।

यह शुद्ध सत्व ही प्रिय के पाने का प्रमाण।
यह लक्ष्य—वेध के लिये धनुष पर तना बाण ॥

बन अप्रमाद, वेद्धव्य ब्रह्म, तन्मय होकर।
मिल जावेगा प्रिय, प्रकृति—छटाओं को खोकर ॥

## —चैतन्य शक्ति—

कोषों में तेरी क्रीड़ा, विस्मयमय कौतुक नाना,
तनुओं में तनिमा तेरी, बल-वीर्यमयी पंचमाना। १

तेरे सामर्थ्य प्रकट हो, अद्भुत रचना रचते हैं,
इस शून्य गगन मे गति से, चकमौरी, से नचते हैं। २

जब प्राण-प्राण समस्वर हो, सम शक्ति उदग्र जगाता,
अणु-भूमा-सम्मेलन मे, ककाल पड़ा रह जाता। ३

मन अपनी ही महिमा मे, उन्नयन—उडानें भरता,
किस-किस संसृति मे जाता, कुछ रचता, कुछ लय करता। ४

विज्ञान बुद्धि जब जगती, पाकर तेरी बलवत्ता,
चेतनता-स्रोत उमडता, भर जाती सत्ता—सत्ता। ५

सरिता ज्यो जल-प्लावन मे, तट तोड फैल जाती है,
चैतन्य-बाढ मे त्यों ही, तू ही तू दिखलाती है। ६

अतिक्रान्त शरीरी-अवयव, अतिक्रान्त इन्द्रियाँ सारी,
हो धौत निखर उठती है, मन मति की क्यारी क्यारी। ७

जग पडता ज्ञान अतीन्द्रिय, अनुभूति अलख की होती,
अपने मे आप रमी सी, तू तन की सुध-बुध खोती। ८

तब जीवन मरण-समस्या, सब खेल जान पडती है,
बाहर-भीतर-चेतनता, जड-भास-रहित बढती है। ९

आन्तर शरीर मे रमती, तू भूत-भविष्यत-ज्ञात्री,
बाहर सानन्द विचरती, तू अमित शक्ति की धात्री। १०

तेरा न जन्म होता है, तू सतत अजन्मा शुचिते,
तू खेल, खेल मे कैसा, विलपना, विलखना, रुदिते? ११

## ज्ञान

अज्ञान-ज्ञान, सुख-दुख के जो अनुभव होते रहते,
जिनकी लहरों में हम सब, डूबे, उतराते, बहते। १

तेरा स्वरूप ऊपर है, इन सबसे पृथक प्रकाशी,
ये सभी प्रकृति-संसर्गी, विभुता – वैमल्य – विनाशी। २

तेरे ऊपर छाया है, इनका प्रभाव परितापी,
तू देख न पाती निज को, अघपूरित ये अभिशापी। ३

तेरे नयनों में छाई, इनकी छविछटा नवेली,
पर साथ नहीं ये देते, तू यात्रा - मध्य अकेली। ४

सुख-दुख दोनों ही आकर, मन में विक्षोभ उठाते,
रोचक, रोषक लहरों में, इन्द्रियगण खो-खो जाते। ५

सेचकता - रेचकता में, खिलना खिलकर मुरझाना,
अनुकूल हर्ष दे जाता, प्रतिकूल - मध्य अकुलाना। ६

सत-असत-संग देता है, अज्ञान ज्ञान के झटके,
आ जाती कहीं झलक है, अधिकांश ध्वान्त में अटके। ७

अज्ञान अशुचि में शुचि की, भ्रम–भरी प्रतीति कराता,
यह क्षर, अनित्य मृतिमा को, अमृतात्म रूप दिखलाता। ८

अस्मिता-राग-द्वेषों में, उस अभिनिवेश के भय में-,
जो क्लेश विशेष भरे हैं, पल रहे अविद्याश्रय में। ९

जब मान-दम्भ क्षत होते, आर्जव-सयम सरसाते,
जब क्षान्ति-अहिंसा - स्थिरता - पावनता- पथ हरषाते। १०

जब जन्म, जरा, रुज, लय मे, दुख-दोष दिखाई देते-
वैराग्य इन्द्रियार्थों मे, अनहकृति उद्‌भव लेते। ११

जब अनाशक्ति सुत-गृह में, सम-चित्त अनिष्ट-इष्ट में,
हो नष्ट श्लेष की ममता, अभिष्वग अदृष्ट-दृष्ट मे। ११

प्रभु मे अनन्य निष्ठा हो, एकान्त-देश-सेवन हो,
हो अरति जनाकुलता मे, तत्वार्थज्ञान-दर्शन हो। १३

अध्यात्मज्ञान-प्रियता हो, अविचल श्रद्धा प्रिय-पद मे,
तब ज्ञेय - ज्ञान जगता है, रमता मन स्वर अनहद मे। १४

यह ज्ञान उधर ले जाना, है जहाँ प्रेम की नगरी,
प्रिय वही प्राप्त होता है, तू इसी प्रेम मे पग री। १४

## —प्रभु का सामीप्य'—

जो अपने प्रभु के पास, त्रास क्यो पावेगा ?
सुखनिधि से हो आकृष्ट स्वय सुख आवेगा। १

ईतियाँ, भीतियाँ दूर सभी सयोगी से,
अद्वेष करुण मैत्री को कण्ठ लगावेगा। २

अज्ञान, दम्भ, अभिमान, दर्प, पारुष्य, क्रोध,
यह असुर - सैन्य निज शिविर वहाँ क्यों छावेगा ? ३

मन - बुद्धि जहाँ प्रभु को अर्पित कर दिये, वहाँ, -
संतोष - साम्य का सुमन स्वयं खिल जावेगा। ४

जिसको न रही कामना, प्राप्त कर प्रियतम को,
उसको अभाव का दाह कभी न जलावेगा। ५

वह अनुद्विग्न, कर सके न हर्ष - अमर्ष स्पर्श,
वह उदासीन उर - उर में ज्योति जगावेगा। ६

अपमान - मान, शीतोष्ण, मित्र - अरि में समता,
प्रतिपक्ष - पक्ष से हीन सहज सरसावेगा। ७

उसका निर्भय चैतन्य, सत्व की शुद्धि सदा,
वह अमित शक्ति का पुंज, दैन्य क्यों पावेगा। ८

वह कहीं रहे, उसको न स्वरक्षण की चिन्ता,
प्रभु बन कर उसका कवच सदैव बचावेगा। ९

उसका धन - बल -यश एकमात्र भगवान स्वयं,
वह स्तोत्र अन्य के क्यों रसना से गावेगा। १०

वह अपने में ही मग्न, अपेक्षा क्या किसकी ?
उसका स्वराज्य ही मुक्त स्वर्ण बरसावेगा। ११

नवम सर्ग

# उत्क्रमण

कभी होता सुषुप्ति मे दक्ष, खोजता जीव वक्ष का कक्ष,
हृदय मे रम जाता है यक्ष, प्राप्त होता आनन्दी पक्ष। १०

ओउम् की यह कुंडलिनी शक्ति, त्रिभंगी-मुद्रा-माधव-भक्ति,
विनायक-शुण्डाकृति-अनुरक्ति, विषम-सम मे अद्भुत आसक्ति। ११

मूल मे ऊर्ध्व गमन मे लीन, निगलती इडा-पिंगला-मीन,
सुषुम्ना मे भरती निज बीन, पार करती है चक्र अदीन। १२

यही है तेरा मजुल मार्ग, इसी को कहते हैं उत्क्रान्ति,
भवानी! मिल जावेंगे भर्ग मिटेगी इस पथ में उद्भ्रान्ति। १३

उत्क्रमणशील सहज तव रूप! अरी, उठ, कर भीषण फुंकार,
ढहा दे विकट आवरण स्तूप, तेज से कर् त्राटक को पार। १४

शून्य मे शिव, शिव में तू शून्य, अवस्था एक अनिर्वचनीय,
न जिसमें पाप, न जिसमे पुण्य, वही है तत्व वदान्य, वरीय। १५

स्वाधिष्ठान—

प्रज्वलित अग्नि की शिखा, शरर-शरर-स्वर भरती,
उठ रही मूल से ऊर्ध्वमुखी, हलचल करती। १

वायें, दायें नल इडा - पिंगला, शशि रवि - सी,
हैं झुला रही पावक - प्रतिमा, दोला - छवि - सी। २

वह चली सुषुम्ना - मध्य, खोजती निज आश्रय,
कहते हैं स्वाधिष्ठान, जिसे वह महिमामय। ३

स्वागत - हित तत्पर खड़ा, लिये उर स्वानुरक्ति,
उसमें प्रविष्ट हो गई, कौलिनी मूल शक्ति। ४

मिल गये चतुर्दल षटदल में, सब छिन्न भेद,
अन्तर था अंगुल चार, रहा अब कहाँ छेद? ५

यह पुरुष - प्रकृति का मिलन, हंस उत्पन्न हुआ,
मिल गये वेद - वेदांग, प्रकट है ज्ञान - सुआ। ६

सोऽहं सोऽहं ध्वनि करता, मानस - ओर चला,
पिंगला - इडा - पंखों पर, इसका प्राण पला। ७

गत अब्द बहुत हो गये, इसे भरते उड़ान,
कब होगा अपना इसे, प्राप्त मानस महान? ८

जिसमें होगा परितृप्त, मुक्ति - मौक्तिक पाकर,
यह स्वयं बनेगा, मुक्ति - भुक्ति का बृहदाकर। ९

मेरी सरस्वती! यही, हंस वाहन तेरा,
चल चढ़ कर इस पर, यहाँ कहाँ डाले घेरा। १

फैलाती कभी विचार, कभी भावावलियाँ,
दे कहीं वीरता - बाण, कहीं करुणा - कलियाँ। ११

तू कभी रुलाती, कभी हँसाती प्राणी को,
विश्राम नहीं देती क्यों अपनी वाणी को? १२

वक्रोक्ति, अलकृति, शब्द - शक्ति - विच्छित्ति कहीं
वैविध्यमयी, रंगिनी, चित्रिता भित्ति कहीं, १३

ये वर्ण - बंध, ये शब्द - गुम्फ, ये कथा - कुंज,
ये हेला, भाव, विभाव, हाव - अनुभाव - पुंज। १४

तू बिखर रही बहुरूप, वैखरी वाणी में,
'तत् त्वमसि' वाक्य को समझ हंस – हरियाणी से। १५

चल, पकड मूल वाणी का, बाहर से भीतर,
है जहां अनाहत - प्रणव, मध्यमा से उत्तर। १६

पश्यन्ती में तू देख रूप निज लोकोत्तर,
गुमसुम हो जा निज परा रूप में मूक – प्रवर। १७

कुंडलिनी से जो स्फोट करे अनुरणन – झनन,
केन्द्रित कर दे निज वृत्ति उसी में ध्वनन – मनन। १८

वैविध्य हटेगा, ऐक्य अंकुरित एकदली,
प्रिय वही ऐक्य में निहित, पिहित तू गई छली। १९

इस माया से उद्धार सखी ! पाना होगा,
छलना – छल से उत्क्रान्ति – गान गाना होगा। २०

## मणिपूरक

मणिपूरक आगे देख अष्टदल - कमल खिला,
यह नाभि देश का बंध, यहीं पर अचल शिला। १

मणि – कुट्टिम, रक्तिम भूमि यहाँ पच्चीकारी,
वह लटक रही ऊपर घंटी नव - रव - धारी। २

ऊपर समान, नीचे अपान की मुक्त क्रिया,
इच्छा ने अपना यहाँ समर्पण – दान दिया। ३

थम गया प्राण भी यहाँ, चित्त की वृत्ति थमी,
प्राण में अपानी तथा विपर्यय – वृत्ति रमी। ४

वाग्मी बनता है व्यक्ति साधना कर इसकी,
इससे होती उद्‌भूत रसायन ध्वनि – रस की। ५

नीचे – ऊपर बहु गुच्छ नाड़ियों के जाते,
ये ज्ञान - कर्म के तन्तु विपुल निधियाँ लाते। ६

इसके ऊपर है सूर्य - चक्र ज्योतिष्क - प्रभा,
है वाम भाग में मनश्चक्र की चन्द्र - विभा। ७

ऊष्मा - शीतलता - केन्द्र उभय आमाशय में,
फैला देते हैं क्रोध - क्षमा हृदयालय में। ८

जब मणिपूरक में बैठ इन्द्र शासन करता,
तब क्रोध नियंत्रित, क्षमा – शक्ति से है डरता। ९

समता स्वभाव में रख शशि रवि पर छा जाता,
रवि भी स्वदेश से शशि - मंडल में द्युति लाता। १०

हो जाता है प्रारम्भ यहीं अजपा जप का,
होता है तीव्रावेग यहीं जाठर तप का। ११

जो आमाशय मे पडे भस्म तत्काल वहीं,
मणि मे परिगत इसके बल से घृत - दुग्ध यहीं। १२

## अनाहत

सामने अनाहत है, हत हो किसी से भी न,
प्राण - वाणी, वाणी - प्राण अत्र समवेत हैं।

हृदय के स्पन्दन मे जाप अजपा की ध्वनि,
सुनते हैं वे जो ध्यान - धारणा - सचेत हैं।

एक – एक धड़कन प्रियपदचाप जैसी,
भाँवरी भँवर जैसी भावना अमेत हैं।

द्वादश दलो से देव द्वादश अदिति पुत्र,
दीख पडते हैं फहराते केतु श्वेत हैं।

ओ३म् ध्वनि शाश्वत सुनाई पडती है यहीं,
वैचारिक पावनता, एकनिष्ठता यहीं।

सहज समाधि यही जागरित वेश मे है,
सयम के साथ धारणा - धरिष्ठता यहीं।

हृदय का दर्पण अमल बनता है यहीं,
श्रद्धाभक्ति भावनाओ की बलिष्ठता यहीं।

दमन अहकृति का, शमन कुसस्कृति का,
प्रभुपदप्रेमासक्ति की घनिष्ठता यहीं।

तू भी बढ़ साधनावलित अवराधना से,
विषय – विमुक्त कर हृदय – प्रदेश को।

परम पवित्र प्रभु यत्र समासीन होगा,
देख न सके जो यहाँ पाप – लवलेश को।

अपने को पाना है तो कर दूर अपरों को,
ध्यान में भी ला न उस अघ – अघमेश को।

याद कर स्वाद से, पुकार परा‌ह्लाद से तू,
छोड़ के प्रमाद अपना ले अमरेश को।

## —: विशुद्धि :—

अनाहत चक्र से है जाती एक नाड़ी सीधी,
ज्योति से समावृत हिरण्यमय लोक को।

अजपा के जाप, भक्ति भाव से भरित योगी,
प्राप्त करता है इसी पथ से स्व - ओक को।

मार्ग में प्रकाश ही प्रकाश मिलता है उसे,
स्नात जिसमें हो दूर करता है शोक को।

दूरी दूर होती, आती निकट निकटता ही,
देखता प्रकटनिज न्योक पुण्य - श्लोक को। १

अनाहत चक्र से सुषुम्ना - मध्य आते हुए,
कण्ठ मे विशुद्धि चक्र पड़ता है षोडशी।
सोलह दलो का पद्म खिलता है शक्ति साथ,
अमृत सघन करता है विश्व को वशी।
रह के उदान यहीं भेजता है दूत दल,
तन के सस्थान सावधान बनते यशी।
वाणी के विधान, स्वप्नलोक-कल्पना-निधान,
जान पड़ते हैं बल - वेगवान स्वदृंशी। २

कण्ठ से निकल ध्वनि सत्य सिद्ध होती सदा,
ऐसा है प्रभाव साधना मे इस चक्र का।
मधुमयी वाणी मधु घोलती है श्रोताओ के,
श्रवणो मे, मुख फेर देती वज्र वक्र का।
रस दे निकाल लेतीं नवनीत तक्र से भी,
उठता उगल रत्नमणि मुख नक्र का।
फैलता प्रभाव, बढ़ जाता है स्व-भाव-क्षेत्र,
हिल उठता है दृढ सिंहासन शक्र का। ३

— आज्ञा :—

आज्ञाचक्र द्विदल कमल, भ्रू - युगल - मध्य
राजधानी जीव की है जागरण काल मे,
भेजते निदेश ज्ञानकर्म - इन्द्रियो के हेतु,
मन भरता है प्रेरणा का बल चाल मे।

आज्ञा से अनाहत उदान द्वारा युक्त रहे,
आन्तरिक दृष्टि विकसित होती भाल में।
कहते हैं रुद्र का तृतीय नेत्र योगी जिसे,
होता है प्रकट वही अज्ञा - आलवाल में। १

तर्क - चिन्तना के फूल खिलते इसी के बीच,
सत - संधिनी से आत्मशक्ति का प्रकाश है।
चेतना इकाई, ग्रन्थि पाकर अहंकृति की,
कर देती किन्तु स्वार्थी व्यष्टि का विकाश है।
शान्त जो अनाहत में मैं - पन हुआ था,
वही बद्ध करने को फेंक देता निज पाश है।
अन्तराय डाल देता संधिनी की सिद्धि-मध्य,
प्रभु - प्रेम का भी यही करता विनाश है। २

आज्ञा चक्र भक्ति - भावना से अभिभूत यदि,
साधक समक्ष बहु - ज्योति - रूप आवेंगे।
दीपक - प्रभा सी, कभी रेखा चंचला सी,
भ्राज - तेज भी सशक्त निज पुंज को उठावेंगे।
आवेगी मनीषा, मति, वृति, जूति, मेधा-शक्ति,
अग - अंग सात्विकी विमल विभा पावेंगे।
होकर सुशोभित अखिल देव धाम - धाम,
शुद्ध बुद्ध आत्मा के पुनीत गीत गावेंगे। ३

गंगा - यमुना का यहीं संगम है तीर्थराज,
यहीं इडा - पिंगला की संधि सुखदायिनी।
चंद्र - सूर्य - मिलन समन्वय का साधक है,
समता से सिद्ध होती सिद्धि अनपायिनी।

त्रिकुटी त्रिवेणी में उलट धार चक्षुओं की,
त्राटक की साधना त्रिलोक - ताप - शामिनी।
हानि हायिनी है किन्तु लाभ से लुभावनी है,
मन - भावनी है, किन्तु दर्प - दम्भ - धामिनी। ५

त्रिकुटी के सगम से तीनों नाडियों की युति,
होकर विभक्त ब्रह्मरध्र में समाती है।
गुप्त जो सुषुम्ना की सरस्वती प्रवाहिता है,
गुप्त इडा - पिंगला के स्रोत को बनाती है।
शीत, ऊष्म, समता के तम, रज, सत अश,
होते हैं विलीन, शून्य धारा रह जाती है।
चेतना ही चेतना है, चिति की चरमता है,
वाणी जहाँ मूक हो परा की गति पाती है। ५

—: सहस्रार :—

आज्ञा की द्विदलता से ऊपर गुहा है एक,
चक्र में ललाट के भ्रमर कहलाती है।
उसके भी ऊपर है ब्रह्मरध्र नामी चक्र,
जिसमे सहस्रदल — कमल प्रभाती है।
द्वार है दशम यही, जिससे प्रविष्ट हो तू,
चक्षु, कण्ठ, हृदय से नाभि तक जाती है।
किया था विदीर्ण, अब फिर से विदीर्ण कर,
निकल इसी से, देवि ! मुक्ति हाथ आती है। १

द्रष्टा तू स्वरूप - मग्न, देख अपने में प्रिय,
प्राणनाथ अपना, सफल कृतकृत्य हो।
वित्त से भी, पुत्र से भी, सत्व से भी
प्यारा देव, पाकर उसी को तू प्रकृति से अनृत्य हो।
फिर कहाँ रध्रता की बध्रता! सुभद्रता है,
छिद्रता है क्षीण, जब सबसे अजित्य हो।
भरण - घरण - शील जगती में एकमात्र,
तू ही, ऐसा कौन अन्य जिसकी तू भृत्य हो। २

सान्त जप, सान्त तप, सान्त कर्म - वर्म - शर्म,
सान्त याग, त्याग—भाग, एक तू अनन्त है।
तू ही शिव, तू ही सत्य, तू ही शान्ति, कान्ति तू ही,
भीतर विराजमान भ्राजमान कन्त है।
उससे समृद्धि, ऋद्धि, सिद्धि, तेज, वाज, भ्राज,
आज सब तेरे तू सुयश - रसवन्त है।
तू ही है रहस्य, वश्य विश्व आज तेरा सभी,
कीलित है काल - व्याल अविष, अदन्त है। ३

तेरा ज्ञान जिसको, उदार वही विश्व बीच,
अन्य सब कृपण, कुलक्षण कुमन्त हैं।
ब्राह्मण वही जो तेरी ओर चलता सदैव,
अन्य गतिहीन जैसे व्यंजन हलन्त है।
वृत्त है विदित उसका ही नभ मण्डल में,
मंडित उसी की महिमालियाँ महन्त हैं।
चारु चरितावली - कली है उसकी ही खिली,
मोद - वासना से परिपूरित दिगन्त हैं। ४

## सफलता

अयि तपस्विनी ! तू जिस पथ से इस शरीर मे आई थी,
खुलने गये कपाट द्वार के तू तम-मध्य समाई थी।
यह अन्तर्मुखी यात्रा तेरी, भूली तू निज रूप यहाँ,
ऊर्ध्वमुखी बन चढी शिखर पर, ऐसा तप बल प्राप्त कहाँ। १

यही देहली है जिससे चल नीचे, तू ऊपर आई,
बियाबान वनखण्ड पार कर आज देहली फिर पाई।
पर विदीर्ण कर विवृति द्वार को जिस पुर-मध्य प्रवेश किया,
ब्रह्मपुरी वह अभी दूर है जिसने दर्शन-दान दिया। २

वही अयोध्या रामचन्द्र की, वही दिव्यता की नगरी,
वह शिव का कैलास शिखर है, तेरी वह विहार-डगरी।
वही विष्णु का क्षीर सिंधु है, वही विशेष शेष-शय्या,
कल्पवृक्ष है वही, वही है कामधेनु दिव्या धय्या। ३

इस नन्दन वन मे नन्दन है जिससे तू आकृष्ट हुई,
इसके फल चख कर ही आगे तृष्णा-मध्य प्रविष्ट हुई।
नाना चिन्ताओ से पूरित चक्रव्यूह का द्वार यही,
विविध मनोरथ-समरों का भीषण क्षेत्र अपार यही। ४

घुस जाना तो सरल, किन्तु अरि-समर कठिन जय का पाना,
सरल विजय भी, किन्तु कठिन है पीछे, देवि ! लौट आना।
कवि कहते हैं, कोमल वीर अभिमन्यु गया था इस पथ से।
पर पीछे कब लौट सका वह विजयी-वज्री रण-रथ से ? ५

कोई अर्जुन, कोई शंकर बनते इस पथ के ज्ञाता,
आ जाते हैं नन्दन वन में छोड़ अधोगामी नाता,
नन्दन वन की शोभा न्यारी, है आनन्द-विहार वहाँ,
चल आगे बढ़ गुहा पार कर, दीख रहा है द्वार वहाँ। ६

छिटक रही ज्योत्स्ना मदमाती, मंगल-मोद-प्रमोद वहाँ,
कांचन शृंग उत्क्रमण-गिरि का गौरी! तेरी गोद वहाँ।
पर नन्दन वन भी तो वन है, यद्यपि सुख-संतोष-भरा,
छोड़ इसे भी, विदृति द्वार से निकल, त्यागमयि स्वयंवरा। ७

ऋतम्भरा! ऋततन्तु चीर कर तू ऋत-पति के सम हो जा,
स्वर्गङ्गे! गगाधारा से गोमुख प्रति प्रह्वम हो जा।
अब न चक्र हों, अब न ग्रन्थियाँ, अब न चट्टियाँ या पौरी,
अब गन्तव्य मूल उद्गम हो, जिससे हो न पुनः दौरी। ८

चढ़ते-चढ़ते तू आ पहुँची, केन्द्र-बिन्दु के पास, सखी,
अब हो जा केन्द्रस्थ जहाँ है तेरा प्यारा अयुतमखी।
स्वर्गधाम भी बन्दीगृह है, दिव्य भोग, पर-तंत्र यहीं,
इसमें कहाँ निवृत्ति बन्ध से? तू भी यहाँ स्वतत्र नहीं। ९

मुक्ति, अरे एकान्त मुक्ति तो विदृति द्वार के ऊपर है,
विस्तृति, विलति, विकृति, अवनति, सृति की संसृति सब भू पर है,
यह उत्क्रमण शून्य में होगा लीन, शून्य ही स्रोत सखी।
इसी शून्य में सत्ताओं की सत्ता ओत-प्रोत सखी। १०

शून्य रिक्त, अवशिष्ट सभी से, जहाँ स्वभाव राज्य करता,
जहाँ न परता, एक स्वीयता, केवल एक आत्म-परता,
बनो स्वयम्भू से स्ववान, तू स्वरति, स्वक्रीड, आत्मरमणी,
आज सफल सौभाग्य, सफल है आज ऊर्ध्वगति उत्क्रमणी। ११

दशम सर्ग

# दर्शन

## प्रभात

आज नवल प्रभात !
री सखि !
आज नवल प्रभात !
चमक रही है ज्योति चतुर्दिक, रही न रौरव रात। १

नव जीवन, नव प्राण उदय हो, करते पुलकित गात,
एक नवीन स्फूर्ति छाई है, चेतनता अवदात। २

आज अरुण का उदय हुआ है, विकसित नव जलजात,
पात-पात में अभिनवता है, रोम-रोम रँग-रात। ३

नीड़ छोड़ खग-शिशु शाखा पर खेल रहे किलकात,
इनका दिन है, इनका मन है, क्या है इनकी बात। ४

छिटक रहीं कलिकायें मद में, सब कुछ इन्हें सुहात,
वातायन खुल रहे, आ रही मन्द सौरभित वात। ५

फूली फूली प्रकृति घूमती, हास न अंग समात,
मुक्त कपाट, भाग्य अब जागे, होता है प्रतिघात। ६

## देवोत्थान

आज देवोत्थान !
री सखि !
आज देवोत्थान !
आज दिव्यता उदय हो रही, जल-थल-नभ्य: समान। १

तप मे थल झुलसा, जल सूखा, पवन तप्त-अवरुद्ध,
अन्तरिक्ष मे मचा हुआ था, क्रुद्ध अघ सा, युद्ध। २

मेघ-समाधि लगी, तो बरसे, तड़पे सघन पयोद,
भरी रोदसी लहर-लहर से, तड़के तड़ित-प्रतोद। ३

दिनकर, निशिकर अन्तर्हित थे बन्दवदन, मन मौन,
आज प्रसन्न सौम्य छवि इनकी कहती- 'विजयी कौन'। ४

थल प्रसन्न है, जल प्रसन्न है, अब न पवन में दाह,
अन्तरिक्ष में, वितत व्योम मे, कही न आह-कराह। ५

छाया था असुरत्व, तभी तो आया यह देवत्व,
तम मे बिखर फूट पड़ता है पुण्य-प्रकाशी तत्व। ६

## आशा

आज दिशायें शान्त-कान्त हैं, मनहर, सुरभित, मद समीर,
आज प्रकृति के उर में पुलकन, उमड-उमड उठता है नीर। १

आज अध्व की अवधि आ गई, साध्वस सान्त, सान्त सन्ताप,
हर्म्य सघस्थ, सघस्थ द्वार है, सुन पड़ती है प्रिय-पद-चाप। २

कल्प-कल्प की क्लेश-क्रन्दना काक्षा-कुण्ठा काल-विलीन,
आज निराशायें निष्प्रभ हैं, आज विफलतायें श्री-हीन। ३

आज उठ रहा है जीवन में यौवन सा अमन्द उत्साह,
प्राण-क्रिया उग्रता ले रही, अन्तः अनुपम भाव-प्रवाह। ४

मदमाती आशायें जागृत, मिलन – प्रेरणा बल खाती,
नाच रही प्रिय मूर्ति दृगों में, निज अभंग आभा लाती। ५

आज नवल निर्माण बना है, मंगल-महल-महत्ता में,
रंजित राग, प्रगाढ़ स्नेह से सिंचित सत की सत्ता में। ६

मत्सर के वत्सर बीते हैं, आई आज प्रणय – वेला,
मेरे प्रिय सम्मुख आ जावें, नयन–नयन का हो मेला। ७

आत्म समर्पण के वे ग्राहक, वे दाहक दारुण–दुख के,
वे मेरे प्राणों की क्रीड़ा, संस्रावक अजस्र सुख के। ८

मुझ अबला के वे अद्भुत बल, मुझ श्रीहत के वे सौन्दर्य,
मुझ अगुणी के गुण अपार वे, असंस्कृता के संस्कृतवर्य। ९

चरण–परस से पदरज उनकी आज लगा लूं नयनों में,
दर्शन–हित यह नवल दृष्टि हो, कुछ उन्मीलन वचनों में। १०

श्रुतियों में उनके मधुस्रावी बोल पड़ें, तो हूं सफला,
झलके आभा हिय–दर्पण में उनकी अभिरामा विमला। ११

आज नेत्र टकटकी लगाये इसी द्वार को देख रहे,
कब समीप से दर्शन होंगे आगम-पथ को लेख रहे। १२

आज स्वयं खिंचती जाती हूं, है कैसा यह आकर्षण?
आंधी सी उठ रही हृदय में रोम-रोम में है हर्षण। १३

उनकी कृपा मुझे ले आई, अमल धवल इस वेदी पर,
उनका अतुल अनुग्रह करता जन-परिपोषण मंगलकर। १४

स्नेह-उदधि में आन्दोलन है, अतल-वितल-तल-वीचि-उमाह,
क्या जीवन-पूर्णिमा आ गई? सफला आज राह की चाह? १५

अरी देख, वे स्वयं आ रहे, करते हुए सुधा-वर्षण,
सुलभ हो गये तुझे, बावली! उनके आज दिव्य दर्शन। १६

## पट

अब कहाँ धूम्र, अब कहाँ पाप? आच्छादक, वारक विघ्न हटे,
तेरे सर्वस्व-समर्पण से कालायस-बन्धन-जाल कटे।

यह आत्म-त्याग ही आत्म-प्राप्ति, यह राजमार्ग प्रिय पाने का,
यह धूम्र-रहित प्रज्वलन सिद्ध है साधन पाप जलाने का।

जब अग्न्याधान सहित निकले प्रिय प्रभु का गुण-कीर्तन मुख से,
तब तप-भरिता प्रार्थना सफल, साधक संयुक्त सदा सुख से।

न सप्रदीप्त, आराधन-रत, तू त्यागमयी, अनुरागमयी,
ण्प, उदार हृदय वाली, ऋजुभावमयी, तू यागमयी।
कल्प-के

आज निरा‸न् श्रवण-मनन, तू ज्योतिमयी, विज्ञानमयी,
रता, तू पावनता, प्रिय-ध्यानमयी।

तेरी हृदय-स्पर्शी पुकार सुन कर प्रियतम समीप आये,
युग-युग के प्रार्जित पुण्य प्रेममय प्रभु को तव सम्मुख लाये।

क्या अब भी तू संकुचित ? लाज-पट-ओट दिये है, सहमी सी,
क्या अविश्वास अवशिष्ट ? अभी अपनी ही धुन में वहमी सी।

क्या मिलन काल-वेकली तुझे संशय-झूले पर झुला रही ?
जागरण-समय की जमुहाई अवगुण्ठन-पट पर सुला रही ?

ले देख, अरे, पट हटा दिया प्रियतम ने अपने हाथों से,
वे तुझमें, तू उनमें पहुंची, किसका परिचय इन माथों से ?

## प्राण

दम देवों में, दान नरों में, असुरों में हो दया भरी,
प्राण - प्रक्रिया कर देती है तो इनकी पथ - वीथि हरी। १

प्राण उक्थ बन इन्हें उठाता, इन्हें श्रेष्ठता देता है,
यजु से कर सायुज्य, उच्च ऋत की सलोकता देता है। २

प्राण साम है, प्राण क्षत्र है, समता यही, यही रक्षा,
धनु से मनु, मनु से देवों में करता यही क्रान्त कक्षा, ३

धनु, मनु, देव सभी का मधु है भूमि, भूमि-मधु ओषधियाँ,
ओषधियों में वीर्य, वीर्य में वाणी की वैदिक विधियाँ। ४

विधियों मे है ऋचा, ऋचा मे साम, साम में प्राण भरा,
प्राण-रक्षिका गायत्री से पा जाती है प्राण जरा, ५

मुख्य प्राण सचरण-शील है शिर की सकल शिराओं मे,
ज्ञान-कर्म-इन्द्रियाँ दौड़ती मन से युक्त दिशाओं मे। ६

जब उदान रस-रक्त आदि को ऊर्ध्वोन्मुखी बनाता है,
मुख्य प्राण शिर में तब उनको यथास्थान पहुँचाता है। ७

शिर के सप्त प्राण मल बाहर सातों छिद्रो से करते।
सशोधन, निर्माण यहाँ पर इसी भाँति होते रहते। ८

प्राण उदान कण्ठ मे रहता, इससे तन ऊपर उठता,
फुफ्फुस की रस-रुधिर-शुद्धि मे यही प्राणपण से जुटता। ९

शत सहस्र हृदयस्थ शिराये तथा धमनियाँ वेगवती,
पाकर धातु-रसादि वक्ष के अग-अग मे बल भरती। १०

है समान नाभि मे क्रियारत आमाशय के पाचन मे,
अन्न, दुग्ध आदि की विविधता के समानता-साधन मे। ११

मुक्त-पीत मे तैल-यत्र सम रस निकालता प्राण यही,
और खली की भाँति मूत्र-मल होता रहता पृथक यहीं। १२

रस से रुधिर, रुधिर से बनता मास, मांस से मेद बने,
अस्थि मेद से, उससे मज्जा उससे शुक्र - वितान तने। १३

यकृत सहायक है समान का निष्कृति-निर्मिति-लीन यहाँ,
मल-मूत्राशय से ... मल, अपान गतिलीन यहाँ। १४

चल कर यह नाभि से पैर तक बहिर्गमन, निष्कासन से,
हटा--हटा मल, पूत बनाता यह तन को निज शासन से। १५

व्यान नाभि को केन्द्र बना कर सब शरीर में व्याप्त रहे,
यह प्रबन्ध–कर्ता शरीर का, इसने तंत्र--उदन्त कहे। १६

उठना झुकना, बैठ--लेटना, बाह्यस्थूल क्रियाओं में,
लेता है सहायता इसकी जीव विभिन्न विधाओं में। १७

नाग, कूर्म हैं, कृकल, धनंजय, देवदत्त इनके संगी,
लाता नाग डकार, कराता वमन, बने चोला चंगी। १८

कूर्म प्राण से पलक झपकते, अंग सिकुड़ते, फैले भी,
कृकल जगाता क्षुधा, छींक से रोध हटाता मैले भी। १९

देवदत्त जमुहाई लाता, फैलाता आलस्य महा,
प्राण धनंजय स्मरण कराता विगत वस्तु सुख--क्लेशवहा। २०

मरणकाल में यह शरीर को फुला बना देता भारी,
दश–विध प्राण बना आश्रय है अंग--अंग में संचारी। २१

तूने की यह प्राण–साधना द्वार खुला अन्तःपुर का,
पर, इस पर तो रहा पूर्व से ही अधिकार सुरासुर का। २२

प्राणवन्त हैं देव, असुर भी उनसे बढ़ कर प्राणधनी,
गूंज रही इसके गोपुर में उभय दलों की कीर्ति घनी। २३

रमते रहे असुर प्राणों में, वे न देहली लाँघ सके,
मनन, यजन के द्वार मुक्ति–प्रद उनके पथ में रहे ढके। २४

स्थूल प्राणगति तक वे सीमित बने श्रेष्ठता के सयुजा,
किन्तु राग-द्वेषो से आवृत कहाँ बने वे मुक्तरुजा। २५

सूक्ष्म प्राणगति मे प्रविष्ट तू दैवी मनन-यजन कारी,
रोग-दोष सब दूर हो गये तू निर्द्वन्द्वा, भयहारी। २६

सफल प्राण-साधना, सफल है अन्त पुर-प्रवेश प्यारी,
आज सफल है व्यथा-वेदना, हरी-भरी मानस-क्यारी। २७

## तन-दमन

तन-दमन बना साधन, प्रिय पूजन का पुनीत,
वह परम ज्ञान, वह परम तेज, वह गेय-गीत।
यह चमक उठा वसुओं का वासक कान्त रूप,
उद्वेग-वेग हैं शान्त, शान्त अवयव अनूप। १

निर्मल शरीर में निर्मल मानस के विचार,
निर्मल निर्णय से निर्मल हैं व्यवहार-तार।
घेरे है चारो ओर शक्ति निर्मल, पवित्र,
वैमल्य-वह्नि मे दमक रहे पावन चरित्र। २

कच्चा घट अब परिपक्व प्राप्त करके पावक,
वात्सल्य भाव से खेल रहा सयम-शावक।
सौकर्य ध्यान में आज, आज सौन्दर्य-विभा,
हैं इन्द्रवन्त ये प्राण, खिली पोषिका प्रभा। ३

जो चातक जैसी रही तृषित, उत्कंठित मति,
दैवी जल से सतृप्त आज उसकी शुभ गति।
उस प्राणपुंज से यह सहस्रधा किरणावलि,
है फूट रही, दे रही शक्ति भर-भर अंजलि। ४

है तम में आज प्रकाश, निराशा में आशा,
विश्रब्ध, बलवती आज सुखद श्वासा--श्वासा।
आ रहे दिव्य संदेश, विजय वरमाल लिये,
ऋषि, देव खड़े तव सिर पर निर्भय हाथ दिये। ५

जो विश्ववशी है प्राण वही तेरे वश में,
इन्द्रियाँ सभी अनुकूल, योगदायिनि यश में।
उनकी प्रदीप्त है दीप्ति, शक्ति शोभा बाँकी,
दे रहीं सुभग-सम-अन्तः की अनुपम झाँकी। ६

वे मन--प्रज्ञा के साथ आज है मधुपायी,
आस्वादन, दर्शन, श्रवण, ग्रहण में अतिशायी।
समवेत शक्ति में प्रकट शक्ति तो तेरी ही,
सबके भीतर भर रही भक्ति तो तेरी ही। ७

## मन महल

प्राण--देहली लाँघ री, मन महल मिलेगा,

इसमें प्रिय का कृति--विस्तारी, मन संकल्प--विकल्प--प्रसारी,
इसके साथ इन्द्रियाँ मिल कर, बनतीं निज-निज-विषय-विहारी।
निखिल--समेकन में यहाँ सम-सुमन खिलेगा। १

यह माध्यम है ज्ञान-ग्रहण का, यह साधक है कर्म-करण का।
यही बीज है उत्तम, मध्यम, अधम-क्षेत्र-संस्कार-भरण का।
यह न रहा तो क्षेत्र में ऋतु नहीं चलेगा। २

इसके तोरण में द्युति झलमल, इसके गोपुर पर नित कल-कल।
भीतर जोड़-तोड़ की इसमें होती रहती भीषण हलचल।
पा इससे सकेत री, विधि-वृक्ष फलेगा। ३

विधि की द्विविध असत-सत सम्पति, द्विदल-विभक्त सुरासुरसतति,
बंध यही से, मोक्ष यही से, चले यही से विजय-अजय-गति।
निर्ऋति, शुभगति-वस्त्र भी सखि यहीं सिलेगा। ४

तू ने दैवी सपद पा ली, दीर्घ दानवी वृत्ति निकाली,
आज भरी तेरी झोली में शिव सकल्पों की निधि, आली।
करतलगत सौभाग्य री, दुख-मूल हिलेगा। ५

## दिव्य मन

दैवी मन में हैं दिव्य भाव, स्वर्गीय भोग,
पार्थिवता से विपरीत अलौकिक सौख्य-योग।
जब असुर बढ़ें, तब बढ़े मरण-मारण कुरोग,
जब देव बढ़ें, तब कुशल-क्षेम के प्रिय प्रयोग। १

दनुता से होता ह्रास, दिव्यता से विकास,
है एक रुदन का धाम, अपर में हास--वास।
है भरा एक में दिग्व्यापी चीत्कार-त्रास,
है अन्य मंजुलामुक्ति-प्रदायी रम्य--रास। २

दुर्दिन दानव लो, सुदिन देवता संत्राणी,
दिव्यता भरे भव्यता, भद्रता कल्याणी।
दैवी रुचि, दैवी अनुशीलन, दैवी वाणी,
इस दिव्य मनन में पाता है प्रतिभा प्राणी। ३

वन जाते अपना बिन्दु, बिन्दु सुविचारों के,
हों वृद्ध निरन्तर रमण--रूप अविकारों के।
पाण्डित्य श्रवण से प्राप्त, मनन से है मुनिता,
गंभीर निदिध्यासन में खिल जाती ऋषिता। ४

सब दर्शन होता स्वच्छ, सकल मल हट जाता,
देवत्व--प्राप्ति का पथ सम्मुख ही दिखलाता।
दैवी प्रसूति, दैवी विभूति मंगलदानी,
दैवी रक्षण से आज सुरक्षित तू ज्ञानी। ५

तू ने प्रवेश पा लिया, महल की छवि आंकी,
मानस-पट पर प्रतिबिम्बित प्रिय की छवि टांकी।
छविमान, प्राण का प्राण, दूर मन का मन है,
इस अन्तःपुर के गुह्य हर्म्य में साजन है। ६

उसकी किरणें आ रही, दूर है किरण-धनी,
उसकी द्युति का आभास पा रही चन्द्रमनी।
मन--महल-मध्य अनुचर उसके क्रीडा करते,
कुछ काल थके-माँदे पथिकों का श्रम हरते। ७

जागरण-स्वप्न रश्मियाँ यहाँ पर फैलाते,
दूरङ्गम ज्योति--प्रकाश यहाँ आते-जाते।
रचते हैं यज्ञ-विधान मनीषी, धीर यहाँ,
यह पूज्य प्रजा का केन्द्र-स्थल बलवीर यहाँ। ८

प्रज्ञान चेत, धृति, अमृत ज्योति का वास यहीं,
बहिरन्त संयोजन का विमल विलास यहीं।
इसकी सहायता बिना न कोई कर्म चले,
सप्तर्षि विदथ में यज्ञ-लीन इसका बल ले। ९

हैं भूत-भविष्यत, वर्तमान इस द्वार खड़े,
यजु, साम, ऋचामय मंत्र रहे इसको पकड़े।
इन्द्रियगण ले निज वृत्ति इसी में हैं जकड़े,
रथ-नाभि मध्य रहते हैं जैसे अरे जड़े। १०

यह हृत्प्रतिष्ठ, जवशीलों-मध्य जविष्ठ रहा,
यह जरा-रहित, बल सहित, वरिष्ठ, बलिष्ठ रहा।
इसकी है गहरी नींव, सुदृढ़ आधारशिला,
मुनि महल यही पर, यही कहीं कवि कलित किला। ११

इसमें पाया तू ने प्रवेश, तू भाग्यमयी,
पर चल इसको भी छोड़ बीर! वैराग्यमयी।
प्रिय दर्शन होंगे, दूर देश अब भी उनका,
वह देख उदय हो रहा तेज बालारुण का। १२

## विज्ञान सदन

मनमहल चौक के पार री विज्ञान सदन है।
यहाँ छिटकती चन्द्र–चाँदनी, वहाँ सूर्य्य की प्रभा पावनी,
फैल रही है किरण–मालिका, शक्तिमती शुभ्राभ, भावनी।
शीतल ज्योत्स्ना से दूर री, यह प्रखर तपन है। १

मन में जिसने अग्नि तपाई, तीव्र मनन में शक्ति जुटाई,
मन्थन द्वारा माखन–घी ले ज्ञान--कर्म की ज्योति जगाई।
कथनी--करनी की एकता मांगल्य--ज्वलन है। २

यही दिव्यता की दृढ़ सीढ़ी, यहाँ प्रेरणाओं की पीढ़ी,
यहाँ न कुण्ठा; अलस--भक्षिणी रहती कल्याणों की टीढ़ी।
दिव्यता–संगिनी बुद्धि में कमनीय यजन है। ३

याजक घी में ध्यान लगाते, पाप–बुद्धि को दूर भगाते,
यज्ञिय घी से कामधेनु के सदृश कामना--दुग्ध दुहाते।
फलवती सिद्धि के साथ ही आप्यायित मन है। ४

धी के ऊपर मेघा आती, यह प्रकाश को सुदृढ बनाती,
देव-पितर-साधना इसी से ऊचे मे ऊचा उठ जाती।
इस ब्रह्मावती मे ऋषि-स्तवन, दिव्यता-अवन है। ५

अग्नि-पावका, वरुण-वारिका, शक्ति-प्रजापति पाप-तारिका,
शतक्रतवी इन्द्र-शक्ति में वायु दिव्यता की प्रसारिका।
फिर मिले धातु को धारिका, तब शक्ति-पवन है। ६

मेधा से प्रज्ञा-पट खुलते, प्राकृत दोष यही पर घुलते,
उदित अरुण आदित्य इसी मे छाया-आतप मिलने-जुलते।
इस ज्येष्ठ ब्रह्म के पास ही भद्रता-भवन है। ७

## आनन्द भवन

विज्ञान सदन के पास ही आनन्द-भवन है।
वरण कर रही तुझे दिव्यता, छाई चारों ओर भव्यता,
प्राकृत पाशों के ऊपर है अपने मन की नवल नव्यता।
विषमय अराति सब ध्वस्त री ! मधु का प्रकटन है। १

आज देव सन्निधि मे तेरी, बनी अमरता तेरी चेरी,
सोमपान मे मग्न चतुर्दिक तेरे बजती मंगल भेरी।
तेरे चरणों मे अब पडा यह मरण-जनन है। २

यह उदात्त, स्पृहणीय अवस्था, तू आसीन प्रकृति–गिरि–प्रस्था ,
आग प्राप्त सब कुछ है तुझको, तू अपने में केन्द्रित संस्था ।
पर इस उन्नति में ही छिपा उत्थान–च्यवन है । ३

इसमें अहमिति की ममता है, चरम कोटि की भी क्षमता है ।
पर तूने निज भक्ति भाव में भरी समर्पण की समता है ।
तुझमें न विकृति की ग्रन्थि री यह शान्त पवन है । ४

स्वर्ग अमर का भोग लोक है, यहाँ हास–रस विगत–शोक है ।
भोग–रोग से दूर हुई तू, प्रिय का भी यह नहीं ओक है ।
कांक्षा–वांछा का शून्य में परिपूर्ण शमन है । ५

तूही अब प्रज्ञा–पारमिता, प्रकृति विजित, तू विजयी, अजिता ,
तेरा जो वरणीय, उसी की तू वरेण्य विभुता से भरिता ।
तू उसकी तेरा वह सदा यह अमर कथन है । ६

वह आनन्दी, तु आनन्दिनि, वह बड़भागी, तू बड़भागिनि ,
तुझमें उसमें अन्तर कैसा एक यहाँ आराध्याराधिनि ।
दोनों के आत्मस्वरूप में वेदान्त वचन है । ७

## मंगल मिलन

मुझमें बस जाओ नाथ ! यहीं पर वास करो,
आनन्द-भवन में देव ! प्रभूत प्रकाश भरो।
बल एक तुम्हारा बल जिससे होती रक्षा,
तुम कृति-शक्ति भंडार, तेज की पर कक्षा।

जब रहो यहाँ, तो रहे अन्य कोई कैसे,
दो खड्ग न रहते एक कोष-भीतर जैसे।
जो मुझे मारते रहे, मरण-ध्वनि ले जाते,
वे स्वयं मरेंगे नाथ ! तुम्हारे ही आते। २

यह अमृत-पूर्ण संसर्ग करेगा अमृत मुझे,
हे सुकृत ! तुम्हारा साथ करेगा सुकृत मुझे।
हे आप्त काम ! तेरे जन में है काम कहाँ,
हे राम ! तुम्हारा रमण, पूर्ण आराम यहाँ। ३

हे शरण-प्रदाता ! शरण तुम्हारी सौख्यप्रदा,
हे प्रभो ! तुम्हारी शासक शक्ति अजेय सदा।
हे विपुल-विभव ! यह सब ऐश्वर्य तुम्हारा है,
बह रही तुम्हीं से यह आनन्दी धारा है। ४

हे अखिलाश्रय ! है सत्य तुम्हारा ही आश्रय,
कर तुम्हें समर्पण जन बनता शाश्वत निर्भय।
मैं शरण तुम्हारी, तव पद-पद्मों में अर्पित,
भजनीय ! तुम्हारा भजन करे सबको रक्षित। ५

हे वाणी के आराध्य देव ! मेरी वाणी,
बन जाय कान में पड़ते ही जन-कल्याणी।
यह प्रकृति-प्रकर्षण तव आकर्षण बन जावे,
पा तुझको मैं निश्चिन्त, न अब कोई आवे। ६

वृद्ध की लकुटि सम एक तुम्हारा अवलम्बन,
तुम हो मेरा सर्वस्व, यही बस आराधन।
अब मेरे तेरे बीच पड़ेगा कौन यहाँ?
इस सधस्थता में विघ्न-आवरण मौन यहाँ। ७

अब तुम गृहीत मुझमें, तुम मेरा रूप भरो,
मैं बनूँ तुम्हारा रूप, ऐक्य साकार करो।
हम दोनों सयुजा सखा, कौन अब भेद करे?
हम शाश्वत साथी, नित्य विशुद्ध अभेद-भरे। ८

नर में नारायण, नारायण में नर-निवास,
हैं रमा-राम भी एक, एक शिव-शक्ति पास।
एकत्व, अभेद, अखण्ड, अदिति की स्वानुभूति,
कल्याणमयी, शुभ, भद्र, आज मंगल-प्रसूति। ९

राधा में आराध्या--
कृष्ण कान्ति है गुहा-गूढ़ सरिता सी।
माधव में है मा भी,
सब की मिति, सीमा, असीम-भरिता सी। १०

प्रिय–प्रिया पास थे, दूर हुऐ, फिर पास हुए।
अगार विरह के युति–चकोर के ग्रास हुए।
यह मिलन मांगलिक है सबकी सम्पत्ति सदा,
यह ओ३म्-उमा की स्थिति अनुपम अनुभूति-प्रदा। ११

## मंगल गान

कर रही विदिशा-दिशायें आज मंगल–गान,
बन गया आह्लाद सब का आत्म पर्व महान।
तनु सभी का आज शुभ्र प्रसाद का प्रासाद,
आज जिह्वा पर सभी के प्रिय प्रमोदी नाद। १

नभ प्रसन्न, प्रसन्न भू है, वायु नृत्य-विभोर,
अग्नि, विद्युत, सूर्य की द्युति का न ओर न छोर।
हर्ष से उन्मत्त जल के बीच वीचि–हिलोर,
कर रहे हैं तरु-लता निज प्रेम व्यक्त अघोर। २

भूमि कहती है, हुआ इसका यहीं पर प्रात,
यह यहीं खेली बढ़ी, कर पुष्ट अपने गात।
प्रेम का इसके हुआ विकसित यहीं जलजात,
आज मेरी लाडिली का शान्त झंझावात। ३

कह रहा जल, डूबती मुझमें रही दिन–रात,
केलियाँ, किलकारियां हैं आज तक सब ज्ञात।
भूल सकती है कभी क्या मंजु मंथन–घात?
स्नान–विधि है जान पड़ती आज की–सी बात। ४

वायु बोली, मृदुल अवगाहन मुझे भी याद,
भंगिमामय भ्रमण इसका, चपल वाद–विवाद।
फरफराता व्योम में जब चारु अंचल–छोर,
साथ इसके खेलती, मैं भी इसे झकझोर। ५

अग्नि ने देखा, तपे तप, सहे क्लेश कठोर,
बन गई कुन्दन, रहे फिर कालिमा क्यों घोर?
यह रही मेरी सहेली, सजन इसकी ओर,
कर रहे हैं, देख श्रद्धा, कान्त करुणा कोर। ६

नभ उठे, कहने लगे, सब है मुझे प्रतिभात,
हो रहे अंकित हृदय में जाप–व्रत के व्रात।
यदि कहो पढ़ दूं अभी मैं भालअंकित रेख?
जानता हूं जो लिखे थे भाग्यशाली लेख। ७

हर्ष–विह्वल आज हम सब निज सखी के साथ,
आज सब कुछ वारने को उठ रहे हैं हाथ।
आज संयुक्ता विरहिणी, आज विरह समाप्त,
प्राप्य जिसका जो रहा, वह आज सब को प्राप्त। ८

मिल गया तन भूमि मे, जल-मध्य रस के स्राव ,
अनल ने निज रूप पाया, अनिल ने गति-चाव ।
प्राप्त नभ को भी रसीला, ध्वनित, गुंजित राव ,
आज आत्मा मे मिली आत्मा, भरित घृत घाव । ९

आज आशीर्वाद प्रभु के सफल, मगलकाम ,
आज द्वयता मे सुशोभित एकता अभिराम ।
आज कहाँ वियोग ? शुचि सयोग के ये साज-
भर रहे आभा अनूठी, मुदित गौरि-समाज । १०

मोद प्राची मे, प्रतीची मे भरा परिमोद ,
आज प्रमुदित है उदीची, दक्षिणा की कोद ।
आज फैला ऊर्ध्व-अध मे मुद-प्रमुद का क्षोद ,
फुल्लता से आज ओत-प्रोत अन्त गोद । ११

आज हैं प्रकृति के अग-अग अमेय ,
आज माँ की कुक्षि सफला, आज गायन गेय ।
आज वह ऋण से उऋण है, आज निष्कृत देय ,
आज उर-उर मे भरा है सोम रस सा पेय । ११

कहने दे आत्मा को ,
वह न प्रकृति की, अपने प्रिय की प्यारी ।
जिन हाथों मे खेली ,
उन् हाथो पर कवि तो है बलिहारी । १३

एकादश सर्ग

# स्वर्ग

## ( १ )

जब दर्प-दम्भ दानव ने मुझे दबाया,
पापों से कर आक्रान्त सुमार्ग भुलाया।
तब मैंने भी प्रतिशोध-भाव अपनाया,
राक्षस, अराति, असुरों पर बल अजमाया।

कर दिये दग्ध सब दैत्य, विरस ढरकाया,
मैंने निज भार उतार सूक्ष्म की काया।
फिर इड़ा-पिंगला-पथ पर प्राण चढ़ाया,
मैंने विहरण, मैंने उड्डयन बढ़ाया।

समगति से भरी उड़ान, यान चकराया,
पृथिवी से उड़कर अन्तरिक्ष में आया।
जब सूक्ष्म वायु के पटल मिले ललचाया,
अपने दोनों पर्खों को खुल फैलाया।

अब अन्तरिक्ष ने ऊर्ध्व द्युलोक दिखाया,
जो नाक-पृष्ठ कहलाता मधु की माया।
बढ़ चला यान, इस प्रभा-पृष्ठ पर छाया,
द्यौ से ऊपर स्वज्योति मिली, सुख पाया।

इस ज्योक ज्योति में ही आराध्य समाया,
भूयसी भूति से न्योक-स्तोक लजाया।
मेरा विकास सर्वोच्च शिखर पर लाया,
मेरे हाथों में आज सुफल मन भाया।

( २ )

आया बल विभव वरेण्य, परम पुरुषार्थ हाथ,
है आज वृत्रदल विजित, पूर्ण साफल्य साथ।
ऋतव क सत्य, श्रद्धा, तप मेरे अग बने,
ऋतद्युम्न बस गया, भाव परिष्कृत सोम-सने।

पावन वैदिक वाणी मे ब्रह्मा बोल रहा,
निष्क्रमण, परायण सब मे मधु-रस घोल रहा,
रस-हीन निरालदी भी सुन कर सरस हुए,
आनद चतुर्दिक फैला, सब सुख स्ववश हुये।

सर्वत्र ज्योति ही ज्योति, अबाधित ज्योति-जाल,
यह अमृत लोक, अक्षित, स्वर्हित, अविजित, अकाल।
चिन्मय आनदी धारायें नित प्रवहमान,
व्यापक विज्ञानी अचल नियम हैं द्योतमान।

धीन, अदीन, अहीन यहाँ विचरण-विहरण,
अव्याहत गमनागमन, समाहित करण-भरण।
ी कामना-लोप, किन्तु उत्कर्ष-हर्ष,
है यहाँ स्वरूपस्थिति, समता आदर्श-वर्ष।
ऽ
तृप्ति, अमृत ही अमृत यहा,
ान्द, मोद, मद, प्रमद, सुकृत ही सुकृत यहाँ।
पूर्ति, सतत ऐश्वर्य- वृष्टि,
र इन्दु परिस्रवण, इन्द्र-हित सुधा-सृष्टि।

## ( ३ )

नाक पृष्ठ यह त्रिदिव त्रिविष्टप शोभाशाली,
इससे दृग्गोचरा स्वर्ग की दीप्ति निराली।
शान्त, अनामय, दिव्य, हिरण्मय, शुचि उजियाली,
रवि से ध्रुव तक बनी प्रोज्वला प्रथित प्रणाली।

उच्छ्रित पश्चिम शृंग जहाँ ब्रह्मा का आसन,
पश्यन्ती से प्रकट प्राज्ञ वैदिक अनुशासन।
पूर्व शृंग से विष्णु दे रहे सबको प्राशन,
मध्यवर्ति शिव से विराम का रम्य प्रकाशन।

यहाँ सौख्य, सौभाग्य, पुष्टि, पावित्र्य प्रमोदी,
यहाँ शान्ति, निर्वृति, निरीहता, अध--अपनोदी।
यहाँ निराशा, यहाँ निर्मली वृत्ति विनोदी,
यहाँ श्वेत है सत्व, तमस--रज--राजि--प्रतोदी।

यहाँ तपी, त्यागी, यजत्र, प्रभु-प्रेमी प्राणी,
भोग रहे निज सुकृति--सुफल, शुभगति कल्याणी।
यहाँ सोमपा, यहाँ सुगोपा, यहाँ अमानी,
समरसता के धनी, भक्त ध्रुव, ध्यानी, ज्ञानी।

यहाँ न कटु कार्पण्य, यहाँ करुणा--वरुणालय,
यहाँ न तम, उरु ज्योति, अवस्थिति यहाँ अनामय।
यहाँ अभयता, यहाँ स्वस्ति, सतति मंगलमय,
यहीं अखिल आनंद, यहीं पर चेतनता--चय।

( ४ )

यह असत नहीं, सत मूल तत्व, जिससे निकला प्राकृत प्रसार,
इस ऊर्ध्व शिखर पर समासीन मैं देख रही जग-जग अपार।
सत मे प्रसृत यह तेज-प्रसर जा रहा लोक-निर्माण-हेतु,
इससे आपोमय तरल द्रव्य हो रहा प्रकट स्वारस्य-केतु।

देखो इसमे ही निकल पडी,
दृढ प्रथित पृथिविया उधर पृथुल।
लय इधर, उधर सर्जन पल-पल,
कैसा विधि का वैचित्र्य विपुल।

मैं छोड चुकी जिस ससृति को,
उसके क्रम – अक्रम – चक्र – जाल।
इस वितत व्योम मे घूम रहे,
इनका व्यावर्तक परम काल।

तैजस वाणी, पय-पुञ्ज प्राण, मानस का जो जनयिता अन्न,
सब कुछ सत की माया-महिमा, उत्पन्न पुन जिसमे प्रपन्न।

शारीरिक बल के स्रोत भूत, स्मृति, आशा, प्राण आत्म बल के,
बल से बढ कर विज्ञान, ध्यान, सकल्प चित्त मे जो झलके।

हो प्राण-प्राण से वर्धमान, मति, श्रद्धा, निष्ठा चले साथ,
अनवरत प्रगति, टूटे न तार, तब मूल तत्व सत लगे हाथ।

सत मे हट कर विभ्रम विराट, सत मे आकर अविचलित शान्ति,
मैं चल कर आई लौट यहाँ, सब बीत गई भव-भ्रान्ति-श्रान्ति।

सत की स्थिति मेरे लिये धन्य, प्रभु-संधायक यह स्वर्ग धन्य ,
वह पुण्य क्षेत्र यह ज्योतिधाम, यह दिव्य गुणाकर, मुक्ति-जन्य ।

इस पावन उज्ज्वल दर्पण में दिखलाई देता शुचि स्वरूप ,
मैं अपने में ही झांक रही, है भीतर मेरा प्रिय अनूप ।

मुझमें मेरा माधुर्य निहित, स्वर्गस्थ सत्व में हुआ प्राप्त ,
वह सगुण, किन्तु वह निर्गुण है, केवल विशेष्य विभु अखिल-आप्त ।

इस दिव्याभा से निकल-निकल फैले प्रकाश पावनकारी ,
ये रवि, ध्रुव, शशि, तारक अगणित झिलमिला रहे नभ-संचारी ।

## ( ५ )

ये ध्यान धौलियाँ आज चलीं चूमने मुझे ,
तू कितना प्यारा, एक सहारा आज मुझे ,
मग में चलती ज्यों धेनु, ध्यान में वत्सवती ,
घर आती रम्भा-रम्भा करती प्रेम-भरी ।

आते ही स्नेहिल चाट-चाट कर [illegible] भी ,
तुम हरषो, ऐसी प्यार, अगाधी [illegible] भी ।
तू भी मुझको मिल गया, विरह-वेला बीती ,
पाकर मुझको भर गई गोद मेरी रीती ।

तू आज धारणा–ध्यान केन्द्र मेरा अनूप,
आ तुझे चूम लूँ, गले लगा लूँ, सुख–स्वरूप।

ओ लाल! आज तू ही केवल मम कवच कान्त,
तुझसे रक्षित, तूझसे गर्वित, समृत नितान्त।

मैं अपने मे फूली न समाती पा तुझको,
जगती मे अब प्राप्तव्य नहीं कुछ भी मुझको।

न्यौछावर है सर्वस्व आज तुझ पर मेरा,
यह झलक रहा जो तेज, सत्व ही तो तेरा।

## ( ६ )

यह बाल ज्योति, यह बाल तेज, यह बाल चन्द्र हो पूर्ण चन्द्र,
यह आह्लादक, यह सुख-साधक, यह बाल विभव हो पूर्ण इन्द्र।

यह रससावी, जन-अनुद्रावी, दुख-परिभावी हो विरल सान्द्र,
यह पूर्ण पूर्ण से सिंचित हो छिटकावे नभ मे विभा चान्द्र।

मुझ अणुहित यह विभु भासमान हो कर दे भूमा–भा विकीर्ण,
यह स्वर्ग पूर्णिमा से भर दे कर दे अपूर्णता को विदीर्ण।

हे लाल! स्वग क[illegible] न है, पर मुझे स्वर्ग की साध नहीं,
तुम मुझे दिखा दो पूर्ण [illegible], हो जाऊं मिल कर एक वहीं।

तुम पूर्ण कलाधर कृष्ण बनो जिसका आकर्षण सभी कहीं,
आकृष्ट रहूं, अपकर्ष न हो, उत्कर्ष करे संस्पर्श यहीं।

तुम सुधा-स्रोत, तुम ओत-प्रोत, मेरे मंगल, मेरे संबल।
हे पूर्ण ज्योति, हे पूर्ण शक्ति, हे पूर्ण विभव, आनन्द अचल।

( ७ )

यह अहं और त्वं हुए एक।
हैं व्यापक व्याप्य मिले दोनों, अणु ने पाया भूमाभिषेक।

बन गया सान्त समरसता में घुल मिल कर मंगलमय अनन्त,
विस्वरता ने समस्वरता में पा लिया प्राप्य जीवन-वसन्त।

कुछ कहते हैं अतिरेक इसे, कुछ मध्य--मार्ग संज्ञा देते,
कहता विवेक, हैं युगल एक, दोनों आदर्श पकड़ लेते।

यह अन्तः बाह्य रहस्य गूढ़ प्रज्ञा-प्रकाश में खुल जाता,
दिक्-काल खड़े मुरझा जाते, विज्ञान विशुद्ध विभा पाता।

तब मुझमें तुम, मुझ तुम में वह, वह भी यह, यह भी वह बनता;
सब एकरूप, सब केन्द्र--मग्न, रससार विरसता से छनता।

पार्थक्य नहीं, वैविध्य नहीं, है एक राग, है एक टेक,
इस स्वर्ण सुधा में डूब गए मनुज, मिल गये एक में दो लोक।

ब्रह्माण्ड पिण्ड लघु-विपुल साथ, अणु में विभु, विभु में अणु प्रविष्ट,
परमात्म-प्राण सारा अन्तर एकमेव देखा सन्निविष्ट।

( ८ )

आज सामने नगर-नगर है ज्योतिर्मय प्रभा का लोक,
यहीं सनातन, आनन्द, आयुत, पूजनीय देवों का ओक।

स्वेच्छा से स्वाधीन विचरते ये आलोक-रथी सब ओर,
अनवरुद्ध इनका प्रभा-पथ, इनका प्रबल प्रकाश अछोर।

इनकी साम्यावस्था दैवी इनका दैवी ज्योति-शरीर,
ये द्युलोक-सार्थों से आवृत, इनकी शय्या सागर-क्षीर।

सन्तत आनन्द रहते हैं ये कल्याणकाम निष्काम,
मृत्यु चरण-तल में लुण्ठित है, इनका दिव्य अमरता धाम।

यहीं स्वर्ग सम्मुख है मेरे जहाँ क्लेश, भय, शोक समाप्त,
जहाँ अखण्ड आत्मवत्ता है, जहाँ अनघ एकता प्राप्त।

बहती हैं प्रकाश-धारायें, ऐश्वर्यों का अन्त नहीं,
उठती हैं आनन्द-लहरियाँ, आत्म-शक्तियाँ खेल रहीं।

सब द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त है यह देवों की क्रीड़ा--भूमि,
रस--सागर में मग्न हो रही यह कैवल्य भाव की ऊर्मि।

## ( ९ )

है यहाँ विभूति अनन्त, अखिल ऐश्वर्य-ओक,
श्री--शोभा अमित अपार, ललित लावण्य--लोक।
मधु-भरित सरोवर-सरित, मधुर माध्वीक लता,
मधु कमल, अमल अच्छोद, अलौकिक मोहकता।

सौन्दर्य यहाँ साकार स्वर्ण किरणों वाला,
इठलाती फिरती छवि उर पर ले मणिमाला।
इसके हैं भोग अकल्पनीय, महनीय स्वाद,
संश्लेष, पुलक आह्लादनीय, हेमाल ह्लाद।

है दिव्य रमण, रमणीय चरण, कृति कान्त शान्त,
समिधा समृद्ध, सुख स्वतः सिद्ध, सब देव दान्त।
परिपूर्ण प्रभा, भरणीय विभा, विध्वस्त ध्वान्त,
शोभित विमान की विद्युति से द्यौं के दिशान्त।

ये दिव्य सदन हैं तरुण सूर्य सम दीप्तिमान,
ये दुग्ध--धवल ज्योत्स्ना से शय्यासन--वितान।
है यहाँ मधुर ही मधुर, सुखद ही सुखद सभी,
निश्चिन्त तुष्टि ही तुष्टि, न चिन्ता-लेश कभी।

है यहाँ अमरता, जरा-मृत्यु का नाम नहीं,
सब युवा सुकृति-रत, यहां कुरोग का काम कहीं ?

है स्वास्थ्य यहाँ, है स्वस्ति वीर्य-वर्धनकारी,
सब दूर पिपासा, ग्लानि, बुभुक्षा बल-हारी।

( १० )

यह क्षरित सोम, यह स्रवित सुरस, यह आनन्दी धारा बहती,
बस गई वामवी शक्ति विमल सब ज्ञान-प्रयत्नों को सहती।

यह प्राणपाती अश्वों पर कर गई पार सरिता-सागम।
चैतन्य-धार में स्नात आज जो रहे कभी थे जड़जगम।

चित में आनन्दी स्रोत उमड़ कर रहा भरण-पोषण मेरा,
प्रज्ञानप्रभामय उषा प्रकट, चमचमा रहा पावन घेरा,

स्वादिष्ट, मदिष्ठ सोमधारा भर रही प्राण का कुण्ड-कलश,
महिष्ठ स्वनिष्ठ महत्तायें, मधुमत्तम सत्तम सत्व स्ववश।

आवरणों का वारण, धारण है विभु-वरेण्यता का विजयी,
सब शल्य गये, कौशल्य रहा, सुषमा-स्वरूप है सुधामयी।

( ११ )

यह शोधक बोधक दिव्य धाम।
सर्वोच्च ज्ञान, बल, वाज यहां हैं सभी सर्व-विध आप्तकाम।

हैं इन्द्र सनातन से विशुद्ध, अब इन्द्रिय-शक्ति विशुद्ध हुई,
हट गये अनिष्ट, अभीष्ट प्राप्त, हत मोह, सुरति संबुद्ध हुई।

यह आत्म शुद्धि परमात्म-बुद्धि, यह सुरति-निरति-परिचय पावन,
याचना तृप्ति से पूर्ण, इधर कर रहे स्वयं धृति-घन धावन।

है उपस्थान सब रत्नों का अस्तेय-व्रती के पास सदा,
हैं शील, शान्ति, सौजन्य वहीं, है जहां माधुरी प्रियम्वदा।

जो प्रकृति विमुख, प्रभु प्रति उन्मुख, वह प्रभु का, प्रभु उसका प्यारा,
है यहां प्रेम ही प्रेम, वैर रह गया जहां पर थी कारा।

यह दिव्य धाम, यह आत्मधाम, परता की यहां पलायनता,
सर्वत्र स्वभाव रमण करता, पलती पावित्र्य-परायणता।

( १२ )

यह परम पदस्थ सधस्थ आज, इसके रस-सिंचक वाज, आज,
ले अपना दैवी सुमति-साज, सब आज रहे सम्मुख विराज।

ये वर्च, तेज, बल, वीर्य, भर्ग, यह नियम--सत्य--सामादि--सर्ग।
यह ब्रह्मदीप्ति, यह वेद--वर्ग, संयुक्त सभी से आज स्वर्ग।

मेरा वसुरुद्रादित्य-व्रात, मेरा वाचस्पति दिव्य--जात।
सब द्योतमान, सब ज्ञात, स्यात, जग रहे आज जैसे प्रभात।

मेरा श्रुत, गुत, हुत, गीत गाथ, मेरा ऋक, मेरा यजु सनाथ।
इस मुदृत लोक का पुण्य पाथ, हैं आज बन्धु सम सभी साथ।

यह तप अभीद्ध महनीय महत, प्रज्वलित प्रदीपित ज्योति वृहत।
मसक्त स्रोत से ऋजुता, ऋत, सब मेल रहे सामने सुहृत।

ब्रह्मण्य यहाँ मेरा हिरण्य, मेरा वरेण्य बन रहा वर्ण्य।
सब कुछ अपण्य, सब विधि अगण्य, मुझको तो दृश्य स्पर्श्य, कर्ण्य।

मेरा सहस्वधा शुभ दर्शन, है सफल आज दिव्याकर्षण।
है आज चतुर्दिक मधु वर्षण, मैं स्नात, पुलकमय सस्पर्शन।

( १३ )

खुल गया द्वार, आ गये देव, आसीन इन्द्र सिंहासन पर,
　　आतंक आसुरी दूर हुआ, आ गई अवस्था अभयकर।

अज्ञान हटा, सज्ञान हुए, निद्रा निद्रित, हम हुए सजग,
　　दारिद्र्य गया, वैभव आया, तम गया, ज्योति जागी जगमग।

कार्दय गया, कर्तृत्व प्रकट, सब दिव्य शक्तियाँ आत्मयुक्त।
जग पड़ी सुषुम्ना सरस्वती, वैदिक स्वर, सुर-संस्तवन मुक्त।

कंपन पुलकों में परिवर्तित, भय-शोक मोद-मुद में परिणत,
है दूर दैन्य, नेतृत्व निकट, है सान्द्र सौख्य, स्वातंत्र्य वितत।

यह परम अग्नि, यह जातवेद, यह श्रद्धा-मेधा से मंडित,
यह प्रज्ञा में प्रबोध-परता, अब कहाँ खाद्य-खंडन खंडित ?

इन्द्रियाँ-इन्द्र समवेत हुए, सब मरुत मयोभव से समस्वर,
शंभव-शंकर-शिव आज एक, शिवतर में मग्न हुए सत्वर।

## ( १४ )

कर गई मधु धारा अतिक्रान्त, स्थूल तन, सूक्ष्म प्राण को आज,
भर गया मानस, चला प्रवाह, जुड़ रहा मधु–विज्ञान समाज।

झर रहा है कैसा मधु-उत्स, पिया था कभी खेचरी बीच,
सहस्रों धाराओं से सोम रहा है रोम–रोम को सींच।

सारभृत, मधुघृत, घृत से दीप्त, स्वर्ग-शोभा का यह सुख-साज,
आज मधु से अंजित हो रहा, राग से रंजित ज्यों ऋतुराज।

धर्म के मेघ आज सानन्द, मदप्लुत, मधु वर्षा में लीन,
आज यह मधु भी सारघ, स्वस्थ, सार से पूर्ण, तेज से पीन।

चतुर्दिक वर्चस, तेजस, भ्राज, चतुर्दिक चेतनता का राज्य ,
चतुर्दिक प्रबल प्रभावी भाव, चतुर्दिक सत्य, सत्य-साम्राज्य ।

आज सब केवल आत्म स्वरूप,दृश्य-द्रष्टा, चिति-चेत्य अभेद ,
आज एकत्व, आज अद्वैत, आज आनंद, अजेय, अछेद ।

## ( १५ )

जो अद्वैत, अभेद, शब्द-सीमा के बाहर ,
वाणी जाकर जहाँ लौटती शून्य, रिक्त-कर ।
चक्षु श्रोत्र, मन, बुद्धि वाद सब से जो परतर ,
कोटि-अग्नि-तारका-तड़ित-रवि-शशि-शोभाधर । १

जो अवर्ण्य, जो गुणातीत, जो अनिर्वाच्य पद ,
अव्याकृत, जो अनाख्येय, अतिक्रान्त सप्त सद ।
वेद जिसे पर व्योम ओ३म पद मे कह पाये ,
जिसे नेति-इति समझ सगुण-निर्गुण-पद गाये । २

इसी हेतु मैं द्वैत पक्ष मे गुण-गण गाऊं ,
उसकी सस्तुति से अधीर मन को समझाऊं ।
सगुण क्षेत्र का स्वर्ग उसी की झलक दिखाता ,
इसी झलक मे भक्त परम प्रभु की द्युति पाता । ३

उसकी महती दया हुआ देवों का दर्शन,
उसकी कृपा अमोघ हुआ सद्भाव-स्पर्शन।
उसकी करुणा करुण-विरहिणी-वपु धर आई,
मेरे प्रिय-जन-मध्य प्रेरणा बन कर छाई। ४

उस अलेख्य को लेख-बद्ध कैसे कर पाता,
पहुँचें कुछ संकेत, हो सके स्थापित नाता।
सफल इसी में इस अशक्त की लिप्सु लेखनी,
यही बहुत, बन सके अगुण की गुण- निकेतनी। ५

उससे प्रेरित हो सरस्वती वाजिनीवती,
आ आकर कुछ लिखा गई यशवती कृतिमती।
जननी का स्तन-पान, उऋण कैसे हो पाऊं ?
उसके चरणों में उसकी ही भेंट चढ़ाऊं। ६

आगे के जो आत्मगीत हैं गीत उसी के,
आदि अगेय अबोल-बोल हैं क्रीत उसी के।
मध्य विरह के गान उसी में अन्विति पाते,
सभी छंद, पद, काव्य परम कवि का यश गाते। ७

द्वादश सर्ग

# आत्म गीत

( १ )

आज मिला तट घाट री, डूब–उछल संसृति–सरिता में ,
इन मादक चंचल लहरों ने, डाल रूप के जाल सलोने ,
खींच लिया मुझको उर-अन्तर, बन्द विवेक–कपाट री । आज०

अघ में अटकी, भ्रम में भटकी, खोटी निष्ठुर खलता खटकी ,
बिलख उठी, प्रभु–करुणा जागी, पाई पावन बाट री । आज०

अब मन नहीं हटाये हटता, बार–बार प्रभु ही प्रभु रटता ,
अब न लुभाता मोहक गति से, सुन्दर सरिता-पाट री । आज०

न्यौछावर बाँकी झाँकी पर, जीवन का सर्वस्व निरन्तर ,
आश्रित सकल मनोरथ मेरे, चचल चित की चाट री । आज०

हृदयासन पर देव विराजे, मनहर मंगल वादन बाजे ,
सोमपान–उल्लास–हास के शोभित सुख–कर ठाट री । आज०

( २ )

आज हुई सुनवाई मेरी ,
गूंज उठी दिशि-दिशि में मेरे संकल्पों की मधुमय भेरी ।

मैंने अपने प्रतिपालन-हित की निज प्रिय से करुण-पुकार ,
उस अक्षय दूरस्थ हृदय में अपनी पहुंचाई चीत्कार ।

बार–बार बस यही कामना रही, मिलें वे देव उदार ,
आज सफल संकल्प, तृप्त हूँ, सत्य सिद्ध मेरे उद्‌गार ।

## [ ३ ]

प्रिय दृष्टि निरन्तर है मुझ पर, मैं प्रतिपल प्रिय को देख रही।
उनके सदर्शन मे भीगी व्रीडा-विभ्रम की भीति बही।

कवि रूप अकवियो मे पाया, मर्त्यों मे है अमरत्व यही,
सज्ञा, चेतना, प्रेरणा, बल, सौमनस, हर्ष का तत्व यही।

सयुक्त रहे सतत मुझसे यजनीय सुमति यह शर्वाणी,
मधु-भरित प्रस्रवित सरिता सी सम्भृत हो आनन्दी वाणी।

यह परम प्रशोभी कान्ति, दीप्ति, झलके मुझमे भी हरियाणी,
यह अमृत अभग रहे मगल-सौभाग्य-सपदा कल्याणी।

सुत्रामा की सत्राणमयी नयनाभिराम द्युति, पावनता,
चन्दन भी शीतल, सौरभमय, मादक मौक्तिक सी मसृणता।

स्पामव के आस्वादन सी यह विमल विभा की व्यजकता,
मैं ओत-प्रोत हुई इसमे मुझमें इस छवि की रञ्जकता।

मेरे अखण्ड पुण्यो का फल है आज सामने नव रवि सा,
पावक पवमान लिये फिरते निज प्राप्य भाग यज्ञिय हवि सा।

पारस-पवि से मिल खेल रहा यह अय शकल स्वर्णिम छवि सा,
अनुभूति-मग्न, कल्पना-प्रवण यह सिद्ध-काव्य कोमल कवि सा।

परितृप्ति प्रेम की कहो इसे, यह स्नेह निविडता मुद्रित सी,
सौन्दर्य-छटा प्रममित प्रसृत यह निगड-बद्ध-अनियन्त्रित सी।

वचनीय, अनिर्वचनीय, ज्ञात अज्ञात यहाँ सश्लिष्ट हुये,
अनवद्य स्निग्ध दर्शन पाकर वर्षों के सफल अभीष्ट हुये।

( ४ )

आज है कृतकृत्य मेरा प्रेम, मेरा स्नेह,
सामने है दिव्य प्रेमास्पद, मिला मधु-गेह।

प्रेम का प्रस्तुत प्रयोजन, प्रेम-भाजन पास,
आज यह परिष्वंग, व्यापन, आज यह सहवास।

आज सत है, आज चित है, आज है आनन्द,
आज है उन्मुक्त ज्ञान-प्रकाश-रवि स्वच्छन्द।

आज मेरा मग्न मुझमें, मैं स्व-धन में बन्द,
आज 'कः' 'कस्मै' कहाँ है ? आज केवल कंद।

अब मुधा में है सुधा, वसुधा सुधा में लीन,
आज जल भी मीनमय है और जलमय मीन।

( ५ )

तुम्हारे अक्षय कवच मिले,
अब न रही रक्षा की चिन्ता, जीवन-ज्योति खिले।

नाथ ! तुम्हारे हाथों द्वारा जब ये गये सिले-
फिर कैसे विध सकते इनमें द्वेष-विशिष निचिले।

सकल दिशाओं प्रदिशाओं ने इनके लिये खिले,
आज सुरक्षित प्रजा तुम्हारी, खल-दल सकल हिले।

( ६ )

मिले हैं आज प्रभु-पद पद्म,
पाया भक्ति-प्रसाद अनश्वर, यश का सुखमय सद्म।

बड़ी पुरानी कीर्ति-कामना प्रभु-दर्शन से सफल हुई,
अब न रही आशा की कर्दम, तृष्णा-सरिता विमल हुई।

अब न भोग के रोग यहाँ है, अब न कुयोग, वियोग,
नष्ट विघ्न बाधा के बन्धन, अब सुयोग, संयोग।

प्रभु की दया-दृष्टि सम्मुख है, वे सम्मुख दिनरात,
बीत गई दुख-सघन-घटायें, अब सुख-रवि अवदात।

( ७ )

तुम्हारी करुणा का कण एक।
आज मिला है मुझे भाग्य से, भागे कष्ट अनेक।

उस प्रकाशमय बृहत स्वर्ग से अन्तरिक्ष में आया,
जल का बिन्दु रसीला मेरे लिये सघन घन लाया।

उसकी सरस, मधुर वर्षा में मैंने सब कुछ पाया,
ज्ञान, आत्मबल, वेद-यज्ञ-फल, सकल सौख्य मन भाया।

नाथ! तुम्हारी स्वल्प बूंद से जन्म-जन्म की प्यास बुझी,
मैं सनाथ हो गई, तृप्ति की अब न रही आशा उलझी।

( ८ )

किया है ज्ञानामृत का पान,
पाया पुण्य--प्रकाश-प्रभाकर, मिला दिव्यता दान।

अब रिपु--पाप करे क्या मेरा? मैं परितृप्त अकाम,
मर्त्य मूर्ति की मरणशीलता यहाँ न पावे धाम।

अमर देव! मुझको भी तुमने किया अमर--गुण-ग्राम,
व्याकुलता बीती, रीती है जीवन की गति वाम।

आज भटकता होगा विभ्रम; मेरे पास विराम,
रही न चंचलता की हलचल, अब जीवन-विश्राम।

( ९ )

अग्नि, विद्युत, सविता, आदित्य—
सभी के जीवन—दाता ख्यात।
प्राण के प्राण, सभी के स्रोत,
विश्व के जीवन–धन अवदात।

उन्हीं प्रिय प्रभु से सब कुछ प्राप्त,
प्राण के हैं वे पोषक प्राण।
उन्हीं से रोम–रोम खिल रहा,
उन्हीं से आज प्राप्त कल्याण।

आज सम्मुख मेरे आराध्य,
कहाँ अर्चा या भावुक भक्ति?
आज शिव–शक्ति शक्ति–शिव पास,
सफल है अंग–अंग — अनुरक्ति।

( १० )

मैं अमर, आज मैं अजर अमर,
मर गये प्रकृति के द्वन्द्व सकल कर मुझसे अविहित विदिन समर।

यह भक्ति-शतघ्नी, ज्ञान-वज्र जिसमे अमोघ बल, शक्ति-सार।
यह कर्म–कृपाण बढ़ी आगे, मिट गये शत्रुदल कर पुकार,

जो सबल दिखाई देते थे, वे निर्बल, दीन, दुखी निकले ।
मेरे प्रिय के वर वाजों से उनके पौरुष–सामर्थ्य हिले ,

भीतर की जब संकल्प शक्ति लेकर अदम्य स्वर बोल उठी ,
ये गिरे, मरे द्वेषादि शत्रु, उर में प्रमोद–हिल्लोल उठी ।

( ११ )

मैं बनी स्वामिनी प्रिय–गामी ,
मैं नित्य मुक्त, मैं शुद्ध बुद्ध, मैं अजर अमर आत्मा नामी ।

मैं अजित, कौन अब छीन सके मेरा वैभव विभु सा विजयी ,
यह मृत्यु मुझे क्या मार सके ? है स्वयं अनित्य विनाशमयी ।

मिलते हैं वैभव, दिव्य रूप, कर सवन सोम का सुखदायी ,
प्रभु की मैत्री में मृत्यु नहीं, है सदा अमरता–अमरायी ।

( १२ )

चल रहा मेरा जीवन यज्ञ ,
होता स्वयं बने हैं इसके मेरे प्रभु सर्वज्ञ ।

चक्षु इसी का पोषण करते, कान और मन स्वाहा कहते ,
मुख-वाणी हवि लेकर चलते, ओ३म् नाम नित जपते रहते ।
आज प्रसन्न प्रभा छाई है, भरी भावना भव्य ।

( १३ )

जगा है मेरा मधु सकल्प ,
प्रतिद्वन्द्वी विष नष्ट हो चुका, रही न बाधा स्वल्प ।

मेरे लिये खुले हैं अब तो विस्तृत मगल लोक ,
मेरी उन्नति-वृद्धि-सिद्धि मे रही न रचक रोक ।

आज झुकें सब मेरे आगे वे विदिशायें चार ,
छहों दिशायें विस्तृत लायें वाछित फल उपहार ।

( १४ )

प्रभु ने दिति सुत दानवदल को अदिति जननि का बना दिया ,
स्वार्थ-द्वेष-भय के भावों का करुणा मे अवसान किया ।

उन महान, अपराजित दैवी भावों का साम्राज्य हुआ ,
दबे आसुरी भाव दैन्य-दुख आज हृदय से त्याज्य हुआ ।

तेज सिंधु से प्राप्त तेज उन देवों का गंभीर महा।
नमन शक्ति के साथ विश्व में संतत अचल–प्रतिष्ठ रहा।

देवों के इस नम्र भाव की मुझमें शक्ति अपार भरी,
आज विजयिनी बनी, सिंधु में मेरी जीवन--तरी तरी।

( १५ )

मधु--स्रोत मिला, मधु–पान किया,
मधु सदृश बनी, मधु रूप हुई।
मधुमय मन, मधुमय हृदय–प्राण,
रसना, वाणी मधु – कूप हुई।

भर रहा आज मधु अंग – अंग,
बह रही चतुर्दिक मधुधारा।
दे रही पुष्टि, दे रही तुष्टि,
बन रही मनोरम श्रम -- हारा।

संयुक्त वर्च, संयुक्त तेज।
उन्मुक्त ओज, स्वच्छन्द शक्ति।
सहचर प्रताप, जीवन अमाप,
देवों में मेरी अभिव्यक्ति

ये मित्र — वरुण, ये अधिदेव,
ये इन्द्र, अग्नि, ये मरुत, सोम।
ये रूप — पूत, द्रष्टा महर्षि,
उद्गात् गा रहे साम — स्तोम।

संवाद प्रजापति से सदस्य,
प्रत्यक्ष आज मधु के रहस्य।
मधु — करण, आज मधु — संवर्धन,
मधु — श्रवण — भरण, मधु रस्य, शस्य।

सौमनस, सुमति, मधुमती ज्योति,
आकृति, हृति मधु से भरिता।
यह, वह, सब, मधु — परिसिच्यमान,
प्रस्रवित सामने मधु — सरिता।

मधु कुण्ड — कलश, मधु यजन — दीप,
मधु घृत, आहुति, समिधा समिद्ध।
मधु होता, मधु मन्त्रोच्चारण,
मधु से परिप्लावित स्वर्ग सिद्ध।

( १६ )

आज प्रबल संकल्प ज्ञान-बल युक्त है,
मेरा दर्शन प्रतिपक्षों से मुक्त है।

देख रही हूँ सब कुछ उसमें व्याप्त है,
आप्तकाम मैं, सब कुछ मुझको प्राप्त है।

आज देव सब मेरे सम्बन्धी बने,
याग-त्याग-अनुराग लिये आये घने।

महिमा-मंडित मेरा यशो-वितान है,
आज चतुर्दिक स्वर्गिक सुख का भान है।

श्रुति-पुट में पड़ गई पुराण पुकार है,
खोल दिया प्रभु ने वैभव-भाण्डार है।

यहाँ न कुछ भी स्वल्प, सभी भूमा बना,
देख सभी कुछ निकट, निहत है कामना।

ज्ञान – कर्म – सीमा दिखलाई दे रही,
चरण-शरण मैंने अपने प्रभु की गही।

( १७ )

प्रिय प्रभु को आज, आओ, जगावें, रिझावें।
अपना प्यारा, सब का प्यारा, प्रिय से भी प्रिय, परम दुलारा,
जग भर की आँखों का तारा, न्यारा शोभा-साज। आओ०

जिसकी मस्ती मस्त बनाती, उर--उर में मधु--लहर उठाती,
हर्षित आनन्दित गति भाती, लाती पुलक-समाज। आओ०

जिसकी पावन दीप्ति निराली, कण-कण मे क्षण भरने वाली ।
नख से शिख तक सुषमाशाली, लाली रही विराज । आओ०

मधुमय प्रभु हित मधुमय उर है, आज प्रीति का अभिमत पुर है ।
फूट रहा प्रेमिल अंकुर है, ऋत है मेरा प्रात । आओ०

अंग-अंग की गति आनन्दित, ऊति-जुति मति-धृति आनन्दित ।
यह आकृति-प्रभृति आनन्दित, आनन्दित अति आज । आओ०

( १८ )

रिमझिम रिमझिम स्वर-साथ मधुर रस बरस रहा,
पीयूष-भरित पय विपुल वेग में वलित बहा ।

घन – स्वन – आनन्दी – नाद, प्राण – पावनकारी ।
विद्युत सी द्युति, पवमान – प्रणीता, तमहारी ।
यह चिन्मयी लेखा विलोक नभ – संचारी,
मय आरम्भ – प्रतिष्ठित, दिव्य – दीप्ति – आभाधारी ।
प्रियतम की ही आलोक लोक को परस रहा । १

यह वृंदन, विनत, व्यापक वृन्दारक – वरणीया,
यह कान्ति परम विश्रान्ति मनोहर रमणीया ।
यह परता – विरता, स्वस्व – सेविता, भरणीया,
आल्हादमयी, कल्याण – केन्द्रिता, कमनीया ।
अब नाम – शेष रह गई विकृतियाँ भयावहा । २

यह सूक्ष्म उधर संघात, व्याप्य -- व्यापक -- महिमा,
हैं व्यष्टि विविध, सबकी समष्टि -- सम्मुख लघिमा।
सरिता में है सन्निहित तरंगावलि -- गरिमा।
तृण -- तृण की तरु में, तनु -- तनु की विभु में वरिमा,
अणु से विराट, लघु से विशाल बन सरस रहा। ३

क्षण--क्षण ज्यों मिलकर नित्य अबाधित काल--कला,
सौन्दर्य सनातन स्वर्ण -- किरण -- अवली अमला।
सत -- अंश -- अंश सत्ता समग्र में डूब चला,
चिति आज महाचिति रूप, सिन्धू में बिन्दु ढला।
अब कहाँ क्षीणता क्षुद्र, पुष्टि की पुष्टि महा। ४

जो सान्त रहा अब है अनन्त का अधिवासी,
जो विचलित था बन रहा वही ध्रुव -- विश्वासी।
अम्बर में अम्बर लीन, विनश्वर अविनाशी।
है खण्ड पूर्णता -- प्राप्त, बद्ध है मोक्षाशी।
है समरसता साम्राज्य, विषमता -- व्यूह ढहा। ५

( १९ )

प्रियतम मेरे पास री, सखि !
अब न कहीं पर क्लेश--कुहासा, आज सफल मेरी अभिलाषा।

धीरे-धीरे दूर हो गई, दर्शन की आकुलित पिपासा,
आज जगा उल्लास हृदय में, विश्वासों का वास। १

आज सभी उन्मुक्त द्वार हैं, हार नहीं है, विजय हार हैं,
शीतल-मद-सुगन्ध पवन से हृदयाह्लादक भाव-भार हैं।
आज पा गई प्राण-त्राण मैं, नूतन हास-हुलास। २

प्रेम गीत गुंजित श्रवणों मे, मादक मोदकता करणों मे,
युग-युग की साधना सफल है, रस-परिप्लावित जागरणों मे।
कोने-कोने में प्रदीप्त है, निर्भय ज्योति-विकास। ३

रहे न शूल, फूल हैं पथ मे, हव्य-हुताशन युक्त विदथ मे,
मेरा मुझमें, मैं अपने मे, अथ है इति में, इति है अथ में।
जीवन ने पलटा खाया है, बना नया इतिहास। ४

आज विरसता-मध्य सरसता, आज विफलता-मध्य सफलता,
आज युगों की भ्रान्ति भग्न है, मग्न महोत्सव-मध्य मधुरता।
आज सुषुम्ना का सुस्थिर है निर्मलतम निश्वास। ५

## ( २० )

ले रहा, रोम-रोम ... प्रेम-वंशी के वादन मे,
रूप माधुरी में नयनों को मिली प्रेम की तान।
रस-रस-सरस बनी ... को हुआ प्रेम का मान।
सभी डूबे मन् ... ह्लादन मे। १

त्वचा मधुर – संस्पर्श – विस्मृता पगी प्रेम की कोर,
छोड़ गंध – माधुर्य नासिका, बँधी प्रेम की डोर।

मग्न सब माधव–मादन में २

सुमन – सुमन – आमोद भरित है मंजुल हृदयोद्यान,
शान्त वसन्ती वायु कर रही स्वरित मनोहर गान।

खिली कलिका रस–प्लावन में। ३

मन–मृग मनन–गमन–वन भूला वादन–मादन–मुग्ध,
भूल गई धी – धेनु पिलाना भाव – वत्स को दुग्ध।

एकरत प्रेमाच्छादन में। ४

कहाँ चित्त है ? अहंकार है ? सब की सत्ता शून्य,
पाप दूर था, किन्तु कहाँ था पास प्रतापी पुण्य ?

युगल के एकास्वादन में। ५

# शब्दार्थ–बोधिका

## सर्ग १

३–मयस्यन्दी–सुख को प्रवाहित करने वाला। मन्द्री–प्रसन्न। गृह-गृद्धि–ग्रहण का लाभ। ४–अजस्रधा–अनेक प्रकार से। ७–अवम–नीचे। ९–परिभू–चारों ओर वर्तमान। १०–इन्द्र–जीवात्मा। वृषा–वर्षा करने वाला ११–अपरोत्तम–जो दूसरों से प्रेरित नहीं है। वित्तम–ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ। पाता–रक्षक। पविता–पवित्र करने वाला। ऋभु–स्वर्ग में स्थित, देवाधिदेव। १३–विष्वक्–चतुर्दिक। व्रात–समूह। १४–हृति–विनाश। १६–प्रणीतियाँ–मार्ग। ऊतियाँ–रक्षण शक्तियाँ। सन्निधि–समीपता। १७–मघवत्ता–ऐश्वर्य। १८–क्षति–विराम। अक्षय्य–अनश्वर। २०–तल्प–शय्या। २१–वाज–बल। २२–दयित–प्रेमी, प्रिय। वितति–विस्तार। विरुदैत–विरुद वाला, अग्रगण्य। आहुत–बलिदानियों में। २३उदग्र–उच्च। २४–सख्यात–प्रख्यात, श्रेष्ठ। ईशान–स्वामी। नयन–द्रष्टा, नेता। निदान–कारण। निधान–आश्रय। २५–वेदना-शूल–दुःख–नाशक। २६–प्रीति–तृप्ति। २७–स्यन्दना–प्रवाह। सानु–शिखर। वितति–आकाश। स्थाणु–स्थिर रखने वाला, आश्रय। २८–सस्राव–निर्झर, उत्स, स्रोत। राव–शब्द, स्वर। २९–आन्वित–प्रेम द्वारा बंधित। ललामता–सौंदर्य। लास्य–रचनात्मक नृत्य या लीला। वास्य–बसी हुई, आच्छादित। आस्य–मुख। ३०–पुनर्नव–पुनः पुनः नवीन होने वाला। अंगिरस–अंगों का रस। ज्वार–समुद्रजल का चढ़ाव। ३१–अपान–अपनयन या दूर करने वाला। उदान–ऊपर उठाने वाला। अदृष्ट–भाग्य। विसृष्ट–विसर्ग, विविध रूपा सृष्टि। समान–धन–ऋण शक्तियों द्वारा साम्यावस्था में रखने वाला। ३२–निस्यन्द–निचोड़। ३७–सीना–वक्षस्थल, हृदय। सीन–सौम्यति, क्रम। ४२–तुजना–क्रुद्ध होना। ४३–दष्ट्रा–दाढ़ें। ४७–दृक्–आँख, देखने वाला। प्रेष्ठ–प्रियतम।

---

शब्दों के पूर्व दी हुई संख्यायें छंद संख्या की सूचक हैं।

४८–आर्त–दुखी । दुरितावली–पापों का समूह । ५०–दाम–माला । भाम–दीप्ति । ५२–हरित–हरा, प्रभु की ओर आकर्षित । ५४–युग्म–जोड़े । मन्थर–मन्द । नव-नवति-ग्रसित–९९ के चक्र में फसे हुए । संभृत–भरे पूरे । ५५–वृन्दारक–देव । ५७–परिवेष–परिधि ।

## सर्ग २

१–भाण्ड–पात्र । सिलसिला–सम्बन्ध । ४–वपुभूप–शरीर रूपी राज्य का राजा । ७–नय–नीति । ८–श्रृंग–सींग, मूल से फूटकर निकली शाखा । १३–रोदसी–द्यावापृथ्वी । करणकृतियाँ–इन्द्रियों के कार्य । १४–गोधन–इन्द्रिय रूप सम्पत्ति । निरति-शय–निरति में मग्न । शैशव-से–शिशुकाल की वृत्ति के समान । १६–सोम–परमेश्वर । सवन–यज्ञ, पूजा । १७–कोप–धन । व्यथा-वंचित–आपदाओं के कारण वंचना या धोखे में पड़ा हुआ । १८–हान का घान–हीनता का समूह । २०–भर्ता–कला, विज्ञान आदि विविध क्षेत्रों का पोषण करने वाला । २१–आप्यायित–सिंचित, तृप्त । २२–दली–दल या सेना वाले । २५–आकूति–संकल्प । आर्जव–सरलता । २६–पृतन्या–सेना । २७–यावर–जंगम । स्थावर–जड़ । गागर–घट, शरीर । २८–भूत–प्राणी । ३१–अपेत–पृथक । ३२–शवस–शक्ति और स्नेह । पड्वी–मार्ग । ३४–जर-दष्टि–बुढ़ापे में भी शक्तिशाली । उमा–प्रज्ञात्मा । सोम–भक्तिभाव । ३८–स्वधा–अन्न, भोग । गृभीत–पकड़ा हुआ । धोक–विश्राम का आश्रय । ४१–अमान–अपरिमित । ध्रुव–निश्चित । ४४–आजानज–सिद्धान्तवादी ।

## सर्ग ३

७–लय–प्रलय । आप–जल । ९–समुद्र–आकाश । १४–गीर्वाणी–दैवी । २०–अश्रान्त–बिना थके हुए । ३५–प्रज्ञान–प्रकृष्ट ज्ञान, प्रकाश । आज्ञान–अनुभव । क्रतु–कर्म । असु–प्राण । वश–इच्छा । ३८–पिप्पली–संसार को पीपल (अश्वत्थ) से उपमित किया जाता है । ४१–विदृति–शिखा के पास का ब्रह्मरंध्र । ४३–उद्भिन्न–विकसित । क्लिन्न–संयुक्त, भीगा हुआ । ४७–उपस्तर–बिछौना । अपिधान–तकिया या ओढ़ना । ४८–शेवधिपा–कोष के रक्षक । ५६–कौन–चुपचाप कोने में पड़े, दबे व्यक्ति । ६०–वृद्ध गृध्र–शिवसंकल्प, । विभीषण–भक्तिभाव । अंगद-हनुमान–प्राण के विविध रूप । ६४–अनी–सेना । ६६–यक्ष–ब्रह्मज्ञान । उमा–प्रज्ञा ।

## सर्ग ४

३–अचिन–जड़ी, बंधी। ५–आहित–एक मण्डल में स्थित। व्यवहित–दूर-दूर स्थित। ७–विस्तार–फैलाव। ९–व्यष्टि–एक व्यक्ति। समष्टि–समुदाय। १०–निस्पन्द–गति रहित। कुहक–कुहासा अथवा कुट–यहाँ, क–कौन। ११–भाव–अस्तित्व। १२–परिचर–सेवक, साथी। आवर्त–भँवर। वीचि–लहर। १४–आसु–चतुर्दिक वर्तमान प्रकृति के परमाणु। अपिहित–आच्छादित, ढके। तुच्छ–शून्य या परात्पर ब्रह्म। अगत–अनिर्वचनीय। प्रथित–विस्तृत। १६–रेतोधा–वीर्यधारण करने वाले जीव। महिमायें–आकाशादि शक्तियाँ। स्वधा–प्रकृति, भोग्य पदार्थ। प्रयति–प्रयत्नशील भोक्ता। १९–सिसृक्षा–रचना की इच्छा। तितिक्षा–सहन शक्ति। २१–समुद्र–आकाश, जहाँ से या जिस ओर सब दौड़ते हैं। २५–जव–गति। द्रुति–दौड़। लघिमा–स्फूर्ति या हलकापन। २६–वाष्पमयी–गैसिक स्टेट। द्रवित–लिक्विड। ठोस–सॉलिड। सहदानी–चिह्न। ३२ विभावना–समस्त। यती–स्ववशी, ब्रह्म। ३४–आतप–ताप। ३६–क्रम-कथा–कर्म का ब्योरा। ३७–भृति–भरण की सामग्री। ४०–प्राण–शक्ति। रयि–सामग्री। ये–प्राण तथा रयि। ४३–पिपिन–मास। पुलिक–विष्टा। ४४–स्फीति–फसल। ४७–क्षोणि–भूमि। ४९–आकुञ्चन–सिकुड़ना। प्रसरण–फैलना। ५१–पिंगी–शमीवृक्ष। ५२–विदथ–यज्ञ। अभिस्वर–प्रकट, गुञ्जित। ५४–अतद्री–चपल, गतिमय। ५६–स्थूल भुक–बाह्य स्थूल पदार्थों का भोक्ता। ५७–विविक्तभुक–स्थूल दृष्टि से अदृश्य सूक्ष्म विषयों का सेवी। ५८–पाप-प्रमाथी–पाप का नाशक। ६२–अघ-आख्यायें–पाप की चर्चायें। ६९–केतु–ध्वजा, ज्ञान की किरण।

## सर्ग ५

साहित्य–साथ-साथ रहना। पुटी–छोटा दोना या रिक्त स्थान जहाँ कुछ रखा जा सके। पवित्रा–पवित्रता कारक। प्रमा–अविचलित अवस्था। आगम्–दिव्यवास। पारग–सेवक।

## सर्ग ६

कामना–अभावपूर्ति के लिए उठी एक अन्तःवृत्ति। भावना–सचित स्मृतियों में से किसी भाव का संवेदन, अनुभावन। कल्पना–सचित और

नेवागत को मिलाकर रचना करने वाली शक्ति। आविले—मलिन। सोहिले—शोभन। रौरवी—नारकीय। मनुजाद—राक्षस। हेला—धावा, चढ़ाई। पुरवाई—पुरवइयाहवा, पूर्वागमन। शरद—ऋतु तथा शर×द—बाण मारने वाली। अयमयी—लोहे की बनी। गौरिगण—इन्द्रियाँ। श्वसन—फूँकना। रसनोपमा—रसना के समान (एक अलंकार)। शर्म-वर्म—शरण रूपी कवच। हायन—वर्ष। सूबे—सूझे। दिवा—दिन, प्रकाश। कदन—मरण या दुःख। अवसर्जन—विनाश। शुभऋति—कल्याणमयी गति। भोर—प्रभा। मृति—मृत्यु। मादन—नशा। विप्रकृता—तिरस्कृता। वातिका—क्रीडा—विध्वंश। (उषा) निर्भर—भरी हुई। स्वाप—शयन। ततिमा—विस्तार। अलंबुस—छुईमुई, जो छूते ही मुरझा जाती है। त्वेष—क्रोध। अर्चि—ज्वाला। अन्तक—मृत्यु, यम। रुषा—रोष, क्रोध। स्वमन्त—ध्वनि करने वाली। वृषा—कामनाओं की वर्षा करने वाला। स्नुषा—पुत्र वधू। संजुषा—प्रेम करने वाली, सखी। क्षरित—बह गया। विविक्त—छिप गये। वला—आपत्ति। सान्द्र—सघन। आततयी—पीड़ादायक। सुषिर—आज्ञाचक्र से सहस्रार तक गई हुई सुरंग, बिल या मार्ग। दिविर—द्यौ का, सत्वगुण का, परित्यागी। कायो—पोषण को ही सब कुछ समझने वाला। जाल—समूह, पाश। मलीमस—मलिन। जुगुप्सित—घृणित। जूति—चाल। सवित्री—उत्पादिका। संग्राह—दृढ़ ग्रहण। आँध्र—अफीका। यूक्तयूपा—यूप से युक्त होकर, यज्ञ-यूप में जैसे पशु बाँधा जाता था, वैसे ही शरीर के साथ वृत्ति बँध जाती है। फूल—प्रसन्नता।

## सर्ग ८

प्रवाज—प्रकृष्ट वल या ज्ञान। प्रशिष—आदेश। धक्षण—ज्वलन। ध्वान्त—अंधकार। उदासीन—ऊपर बैठा हुआ। अभिष्वंग—आसक्ति। व्यक्ति—प्रकटन। संस्प्रष्टा—छूने वाले। विस्रस्त—खुला हुआ।

## सर्ग ९

वरीय—श्रेष्ठ। हरियाणी—हरि के यान वाला, आत्मा का वाहन। हंस—प्राण। मपि—वीर्य। न्योक—निश्चित घर। वक्र—तिरछा चलने वाला, मायावी। तक्र—स्नेहहीन व्यक्ति, मट्ठे के समान। नक्र—मगर, जल शोषक। युति—संगम। रम्भता—वाचकता। बध्रता—वधिरता, बहरापन। मोद—सुगंध।

बय्या—प्रारब्ध । प्रह्वम—प्रवणायित, नम्र, विनीत । ढौरी—ढरकना, पतन ।

## सर्ग १०

माध्वग—पथ । सधस्थ—सामने स्थित । कालायस—काले लोहे सदृश कठोर । पाथ—मार्ग । तन्न—शरीर । उदन्त—समाचार, सभी दशाओं का ज्ञान । तैलयन्त्र—कोल्हू । सुख-क्लेश-ग्रहा—सुख और दुख से संयुक्त । मुक्तरुजा—नीरोग । व्यवहार तार—व्यावहारिक सम्बन्ध । सौभग—सुगमता । क्रतु—यज्ञ । विधिवृक्ष—ब्रह्मा का वृक्ष, संसार की रचना या कर्म का विपाक । निर्ऋति—दुर्गति । पानी—बड़ाई, पुष्ट की । बिन्दु—वीर्य, शक्ति । भवन—रक्षा । गैहाम्र-च्वन—गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ हि तद्दर्शनात् । १-२-११ हृदय रूपी गुहा मे प्रविष्ट जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही है, क्योंकि ऐसा देखा जाता है । गुहा-गूढ़-सरिता—सरस्वती । क्षोद—चूर्ण । निष्क्रम—चुका दिया ।

## सर्ग ११

ध्रोव—शाश्वत । प्राशन—भोजन । निर्वृति—आनन्द । क्षोक—छोटा । पोष—घर । वर्ष—देश । अग्याजी—मार्ग । प्रभेदी—भेदक, नाशक । सधायक—मिलाने वाला । प्रपन्न—शरणागत, लीन । चय—समूह, । भूत—आकाशादि पञ्चभूत । ह्लाद—ह्लाद—संगीतमय सुरीले शब्द । सुधा-धरी—अमृत को धारण करने वाला । सारव—सारगर्भ अपूर्व ज्ञान से पूर्ण । सप्तसद—सप्त-धाम । गुण-निकेतनी—गुणों का ज्ञान करने वाला—गुणों का आवास जिसमें है

## सर्ग १२

२-हरियाणी—हरियानवाली, जो हरि पर चढ़ी हुई है । शर्वाणी—दुख-नाशिका । शकल—टुकड़ा । ४-वन—भजनीय । कद—मूल, आनन्ददाता ७-अविहित—अनुचित । अनवद्य—प्रशंसनीय । १३-भग—आनन्द । प्रीति—तृप्ति । ऋत—सत्य । प्रमृति—मरण करने वाली । वरिमा—श्रेष्ठता । १८-अम्बर—आकाश, वस्त्र, शरीर । मोक्षाशी—पाप भोगने वाला ।

# शब्द-संशोधिका

| अशुद्ध | शुद्ध | पृ० |
| --- | --- | --- |
| मडित | मंडित | २८ |
| मजुल | मंजुल | ,, |
| भूरि-भू | भूरि-भूरि | ३६ |
| गन्धर्वी | गन्धर्वी | ३७ |
| शूरवीरो | शूरवीरों | ,, |
| संवलिन | सवलित | ,, |
| या विपन्न | विपन्न | ,, |
| निम्नगाधार | निम्नगा धार | ४९ |
| गृद्ध | गृध्र | ५० |
| ताक्ष | लक्ष | ६१ |
| वनस्पति | वनस्पति | ६३ |
| जिपाती | छिपाती | ७० |
| अव-ओघ | अघ-ओघ | ८५ |
| वसंत | वसन्त | ८६ |
| ह्रास | हास | ८७ |
| तक | तम | ८८ |
| गुनगनाये | गुनगुनाये | ,, |
| कलुषिता | कलुषता | ९२ |
| अदाम्य | अदम्य | १०० |
| पख | पंख | १०३ |
| गम | राम | ११२ |
| वारक | वारक | १२० |
| स्मृतियां | स्मृतियाँ | १२३ |
| सुदन्रताई | सुन्दरताई | १२९ |
| विवधता | विविधता | १३३ |

| अशुद्ध | शुद्ध | पृ० |
|---|---|---|
| स्त्रण | दाण | " |
| शुभ | शुभ्र | १३२ |
| हृतन्त्री | हृतन्त्री | १४६ |
| मधुरमा | मधुरिमा | १५५ |
| असपन्न | असपन्न | १६१ |
| अष्टम | अष्टम | १६५ |
| का का | का | १६७ |
| सधुत | सधुनि | १७३ |
| आत्मा | आत्म | १७७ |
| वो | कोई | १८१ |
| ऋतुनामय | ऋजुतामय | " |
| बहा | बहा | १८३ |
| एवमाना | पवमाना | " |
| अनासक्ति | अनासक्ति | १८६ |
| स्वय | स्वर्क | १८७ |
| स्तोत | स्तोत्र | " |
| सुपुन्ना | सुपुम्ना | १९२ |
| वह | वहा | " |
| अशा | आशा | १९९ |
| लीट | लौट | २०२ |
| सकेत | सवेग | २१६ |
| वध | वध | " |
| आय | आज | २२१ |
| तु | तू | " |
| पन्नो | पखो | २२९ |
| ऋतवव | ऋतवाव | २३० |
| अर्दान | अदीन | " |
| मद-प्रमद | मुद-प्रमुद | " |
| अध | अघ | २३१ |

**शब्द-संशोधिका**

| अशुद्ध | शुद्ध | पृष्ठ |
|---|---|---|
| ममासीन | समासीन | २३२ |
| ससृति | संसृति | ,, |
| कछ | कुछ | ,, |
| रा | मेरा | २४० |
| शकर | शंकर | २४१ |
| द्रंव | देव | २४७ |
| बार–बार | वार–वार | ,, |
| सयुक्त | संयुक्त | २४८ |
| सयमित | संयमित | ,, |